

नौकरशाह

ही नहीं...



अनिल स्वरूप

Ripped from kindle by TimirNashak @ zlibrary.

Instead of Coffee & Sutta,Buy the book if you like it.

तिमिरनाशक @ zlibrary की प्रस्तुति

यदि पुस्तक अच्छी लगे तो कॉफी, सुट्टे के बजाय इसे खरीद !.

नौकरशाह ही नहीं...



अनिल स्वरूप



प्रभात प्रकाशन

ISO 9001 : 2015 प्रकाशक

अपने माता-पिता के श्रीचरणों में...
मैं आज जो कुछ भी हूँ, उन्हीं की बदौलत हूँ।

पुस्तक के बारे में कुछ टिप्पणियाँ

यह प्रेरणादायी कहानी कुछ ऐसे अधिकारियों की है, जिन्होंने भारत की नौकरशाही की आत्मा को खत्म करनेवाली बाधाओं और लालफीताशाही के बावजूद बहुत कुछ हासिल किया। यह कहानी यह भी साबित करती है कि भारत के विकास का दुश्मन कहीं बाहर नहीं, बल्कि इस व्यवस्था के भीतर ही है। यह पुस्तक एक ऐसे व्यक्ति की ईमानदारी और जुनून के द्वारा लिखी गई है, जिसने अपना सारा जीवन इस निष्ठुर व्यवस्था के भीतर ही गुजारा था। मैं हृदय से इस पुस्तक की प्रशंसा करता हूँ।

— गुरचरन दास, लेखक एवं स्तंभकार

लोक सेवा के क्षेत्र में ऐसे बहुत से चमकदार सितारे हैं, जिनका यशोगान किया जाना चाहिए; किंतु अनिल स्वरूप उन विलक्षण लोगों में से एक हैं, जिन्होंने अपने विचारों को एक बड़े समुदाय तक प्रभावशाली ढंग से पहुँचाने में सफलता हासिल की है। मैंने उन्हें कई बार युवा लोक-सेवकों के समूहों को विभिन्न विषयों पर संबोधित करते सुना है, जिनका वर्णन इस पुस्तक में भी है। जब वे अपने श्रोताओं को छोड़कर कक्ष से बाहर निकलते हैं, तब उन श्रोताओं में कुछ अलग से कर दिखाने की भावना स्पष्ट नजर आती है।

लोक सेवा के मेरे बहुत से सहकर्मियों की आत्मकथाओं से हटकर अनिल स्वरूप की यह पुस्तक उनके आई.ए.एस. के कार्यकाल के दौरान के बहुत से जाने-माने सामाजिक क्षेत्रों में उनकी सफलताओं के बारे में भी बताती है। बिना किसी अनावश्यक अलंकार के उनकी भाषा भी आवश्यकतानुसार पाठकों के मन को छूने में सफल रहती है। इनमें से आर.एस.बी.वाई. योजना की संकल्पना, प्रतिपादन और विस्तार की कहानियाँ काफी रोचक हैं।

— प्रभात कुमार, पूर्व कैबिनेट सचिव एवं पूर्व राज्यपाल, झारखंड

एक आई.ए.एस. के रूप में इन्हें सावधानीपूर्वक गढ़ने की नियति इनके पिता ने इनके जन्म के समय से ही शुरू कर दी थी। इनकी नियति इन्हें उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में उपजिलाधिकारी के पद पर ले गई, जहाँ इन्होंने सवारी गाड़ियों में अधिकतम लोगों को यात्रा करते देखने के साथ बैंक लूट में हुई गोलीबारी का भी सामना किया। इनका नाम सिख आतंकवादियों की हिट लिस्ट में आया और बाबरी ढाँचा दहाए जाने के समय इन्होंने कल्याण सिंह को भी नजदीक से देखा तथा 'गैस ऑफ वासेपुर' की ही तरह कोयला मंत्रालय की स्थिति का भी सामना किया। अपनी इस पुस्तक में ये कहते हैं कि "सरकार आपको वह कुशलता सिखाती है, जो कि प्रबंधन स्कूलों में नहीं सिखाई जाती; जैसे—निर्मित संकटों का सामना कैसे किया जाए।" यह पुस्तक इनके प्रशासनिक चमत्कार का भी वर्णन करती है कि किस तरह से इन्होंने सांप्रदायिक तनाव की लपटों को बुझाया तथा पर्यावरण स्वच्छता के नाम पर अवैध कमाई पर रोक लगाई और उत्तर प्रदेश की मृतप्राय वित्तीय संस्था को पुनर्जीवित किया। परंतु इनके लिए 'भारत रत्न' की जरूरत तब महसूस हुई, जब इन्होंने एक व्यक्ति को न केवल उसके कार्य पर ही उसे वापस लौटने में सहायता की, बल्कि उसे नशीली दवाइयों के चंगुल से भी निजात दिलाई।

— शेखर गुप्ता, संस्थापक संपादक, 'द प्रिंट' और पूर्व मुख्य संपादक 'द इंडियन एक्सप्रेस'

यह पुस्तक अविश्वसनीय अनुभवों से भरे जीवन की एक आश्चर्यजनक सच्ची कहानी है और सभी के लिए पठनीय है।

— तरुण दास, परामर्शदाता सी.आई.आई.

भारतीय प्रशासन की जटिल दुनिया की आंतरिक स्थिति का वर्णन करते समय अनिल स्वरूप ने इसकी प्रशंसा में उदारता और आलोचना में कठोरता बरती है। रोचक किस्सों से भरी यह पुस्तक उनके पेशेवर जीवन में आई चुनौतियों के बारे में भी बताती है, जिनमें बाबरी ढाँचा, आर.एस.बी.वाई. योजना, कोल ब्लॉक आवंटन तथा भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त दुर्व्यवस्था प्रमुख थी। स्वरूप जैसे अधिकारियों की बदौलत ही भारत सभी बाधाओं के बावजूद प्रगति कर रहा है, क्योंकि तमाम तरह के दबाव और खींचतान के बावजूद ये अपने सिद्धांतों पर टिके रहते हैं और इस तंत्र में बने रहते हुए बेहतर परिणाम देने में सक्षम होते हैं।

— डॉ. अंबरीश मिथल, पद्म भूषण, प्रख्यात अंतःस्राव चिकित्सक

अनिल स्वरूप द्वारा लिखी यह पुस्तक लोक सेवा में जानेवाले नए प्रतिभागियों के लिए भी अवश्य पठनीय है, क्योंकि इसमें इन्होंने नौकरशाही की आत्मा और नैतिकता की नई परिभाषा प्रस्तुत की है। अनिल लोक-सेवकों की उस विलक्षण नस्ल से संबंधित हैं, जिनमें रीढ़ की हड्डी होती है तथा अपनी ताकत का इस्तेमाल करने की चाहत भी

होती है, चाहे वह नौकरशाही में हो या फिर उस राजनीतिक वर्ग पर, जो कि सत्ता का इस्तेमाल जन-कल्याण के लिए नहीं, बल्कि अपने निजी स्वार्थ के लिए करते हैं। अपनी इस पुस्तक में अनिल दिखाते हैं कि किस तरह एक लोक-सेवक नियम एवं नियमावलियों से परे जाकर लोगों के लिए प्रेरणा बन सकता है तथा नीति-निर्माण में नवाचार ला सकता है। अनिल को जहाँ महसूस होता था कि वे सही थे, वे टिके रहते थे। उनकी छवि एक स्पष्ट वक्ता की थी और जहाँ उन्हें लगता था कि उनके अधिकारी गलत थे, वे परिणामों की परवाह किए बिना ही उनसे कह देते थे।

—योगेंद्र नारायण, पूर्व मुख्य सचिव, उत्तर प्रदेश एवं पूर्व महासचिव, लोकसभा

अनिल को मैं अपने मसूरी अकादमी के दिनों से ही जानता हूँ। शुरुआत से ही वे अलग नजर आनेवाले तथा सर्वश्रेष्ठ प्रशिक्षु अधिकारी पुरस्कार प्राप्तकर्ता थे। वे हमेशा से ही अपने दृष्टिकोण के प्रति स्पष्टवादी थे। उनकी यह पुस्तक उत्तर प्रदेश एवं भारत सरकार में उनके विलक्षण पेशेवर जीवन को दर्शाते हुए पाठकों को राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ रोचक घटनाक्रमों के आंतरिक दृष्टिकोण को भी व्यक्त करती है। यह पुस्तक अत्यंत ही रोचक है।

—परमेश्वरन अय्यर, सचिव, ग्रामीण स्वच्छता (स्वच्छ भारत), भारत सरकार

अविरल

समय रुका नहीं, हम क्यों ठहर गए?

अभी तो हम चले ही नहीं, फिर क्यों थक गए?

उठो पथिक, मत भ्रमित हो, धूमिल अँधियारों में।

श्रेष्ठ वही जो घिरा नहीं हो, क्षणिक निराशा में।

जागो, जगाओ, मत मन बहलाओ।

एक मसीहा, तुम भी बन जाओ।

भूमिका

भारतीय प्रशासनिक सेवा की वाकई अद्भुत यात्रा थी! मुझे नहीं पता कि यह और भी अधिक परिपूर्ण हो सकती थी। मेरा जीवन चुनौतियों से भरा था और यही इसकी खूबसूरती भी थी। यहाँ बहुत कुछ करने के लिए था और बहुत कुछ व्यक्ति कर भी सकता था। साथ ही, इसमें रोमांच भी बहुत था। मैंने यहाँ संभावना के तीव्र रोमांच में कई रातों बिना सोए ही गुजारी थीं। यह रोमांच पहले दिन से मेरी सेवा के अंतिम दिन तक बना रहा। यह पुस्तक निर्धन से निर्धनतम और संपन्न से संपन्नतम व्यक्ति की सेवा में गुजरे कुछ अनुभवों का साझा है। मुझे कुछ विलक्षण अधिकारियों और व्यक्तियों के सान्निध्य का सौभाग्यपूर्ण अवसर भी मिला, जिन्होंने मुझे प्रतिबद्धता और पथ पर टिके रहने की प्रेरणा दी थी; क्योंकि यही उनकी प्रस्तुति भी थी।

श्री योगेंद्र नारायण का नाम उन बहुत से लोक-सेवकों में से एक है, जिनमें विषम परिस्थितियों में स्वयं को शांत रखने की क्षमता होती है। उन्होंने मुझे कार्य की प्रेरणा ही नहीं दी, बल्कि मेरे अनुभवों को कलमबद्ध करने में सहायता भी की। यह पुस्तक उन्हीं प्रेरणाओं का परिणाम है, जो उन्होंने लगभग दो दशक पहले मुझे दी थीं।

योग्यता और निष्कपटता की प्रतिमूर्ति श्री प्रभात कुमार, जो कि कैबिनेट सचिव के पद तक पहुँचे और उन्होंने ही मेरे विचारों को सुव्यवस्थित करने एवं उन्हें एक पुस्तक का रूप देने के लिए प्रेरित किया। मैंने श्री डी.के. मित्तल के साथ कभी काम तो नहीं किया, पर वे विचारों की स्पष्टता एवं निर्णय लेने के मामले में मेरे आदर्श अवश्य थे। अजय भल्ला, जो कि बाद में केंद्रीय ऊर्जा सचिव बने तथा कोयला आवंटन में व्याप्त दुर्व्यवस्था को दूर करने की नींव रखने में उनकी भूमिका रही, जो कि इस पुस्तक का महत्वपूर्ण अंश है। विवेक भारद्वाज, जो कि उन्हीं दिनों कोयला मंत्रालय में संयुक्त सचिव थे तथा कोल ब्लॉक आवंटन देख रहे थे (हालाँकि मुझे इसका श्रेय अधिक मिला)। उन्होंने ही इस मामले में मेरी सहायता की थी। मानव संसाधन विकास मंत्रालय की बेहतरीन अधिकारी अनीता करवल और संतोष मैथ्यू का शिक्षा से संबंधित अध्यायों में मेरे विचारों को सुव्यवस्थित करने में विशेष योगदान था।

मेरे निजी सचिव विजय कुमार जुनेजा का अथक प्रयास इस पुस्तक की पांडुलिपि को बार-बार टाइप करने और व्यवस्थित करने में रहा है।

प्रत्येक सफल अधिकारी के पीछे एक आत्म-त्यागी परिवार का हाथ होता है। मैं दावे से नहीं कह सकता कि एक प्रशासनिक अधिकारी के रूप में मैं सफल रहा या नहीं, पर मेरे परिवार ने बहुत त्याग किया था। शुरुआत में मेरे माता-पिता और मेरे भाई-बहनों ने अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग किया, ताकि मैं एक महँगे पब्लिक स्कूल में पढ़ सकूँ और बाद में मेरी पत्नी रुचि, पुत्री अदिति एवं पुत्र अपूर्व ने हमारी साधन सीमा में रहते हुए सादगी भरा अनुशासित जीवन जिया। इस पुस्तक में विचारों की अभिव्यक्ति में मेरी पत्नी का विशेष योगदान रहा है, क्योंकि उनसे बेहतर आलोचक नहीं मिल सकता था।

— लेखक

जुलाई 2009 में जब मैं यूनिफाइड आइडेंटिफिकेशन अथॉरिटी ऑफ इंडिया (यू. आई. डी. ए. आई.) लागू करने की जिम्मेदारी के साथ दिल्ली आया, तब मैं भारत सरकार के लिए बिल्कुल ही नया था। उन दिनों की यू. पी. ए. सरकार ने मुझे एक कैबिनेट मंत्री का दर्जा दिया था और शुरुआत के कुछ हफ्तों में ही मैंने महसूस कर लिया था कि सिर्फ पद हासिल करने मात्र से ही आप भारत की राजधानी की सत्ता के जटिल गलियारों में अपना रास्ता नहीं ढूँढ़ सकते थे। मैंने काफी मेहनत की और एक अरब से अधिक भारतीय नागरिकों को एक विशेष पहचान संख्या देने के लिए स्वयं को तैयार किया। मैंने इस प्रशासनिक तंत्र के रहस्यमय तरीकों की अज्ञानता से निबटने के लिए स्वयं को तैयार किया और इसके लिए उन सभी व्यक्तियों से मुलाकात की, जो मुझे कुछ जानकारी दे सकते थे। अपने बौद्धिक और लेखक मित्र गुरचरन दास से वार्तालाप के दौरान मुझे राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर. एस. बी. वाई.) और इसे कार्यरूप देनेवाले आई. ए. एस. अधिकारी अनिल स्वरूप का भी पता चला। मुझे अनिल से मिलने की जिज्ञासा हुई और मैंने उनसे मुलाकात करने का तय किया।

अनिल का कार्यालय एक अप्रत्याशित जगह, धूल भरे जैसलमेर हाउस में था, जो कि बहुत से पुराने शाही निवास-स्थानों में से एक था और जिसे हम नई दिल्ली के नाम से जानते हैं। तकरीबन एक घंटे की मुलाकात में ही मुझे महसूस हुआ कि मैं एक बहुत ही विलक्षण नौकरशाह से मिल रहा था। उनमें भारत में राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य बीमा की अपनी कार्य योजना को लागू करने का एक जुनून था। अनिल ही वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस बड़े कार्य के लिए स्मार्ट कार्ड लागू किया था। उन्होंने इस कार्य के लिए विश्व बैंक और जर्मन डेवलपमेंट एजेंसी जी. टी. जेड. के बहुत से सहयोगियों को भी मिलाया और अपनी इस स्वास्थ्य योजना का नेतृत्व स्वास्थ्य मंत्रालय से लेकर श्रम और नियोजन के रूप में किया।

भारत सरकार में नौकरशाह होते हुए ऊपर उठने की चाहत की सबसे बेहतर रणनीति जोखिम न उठाना, निर्णय न लेना, परामर्श देने में सावधान रहना और स्थापित मंत्रालयों में सुरक्षित स्थान तलाश लेना है। अनिल ने इस मार्गदर्शक पुस्तिका का अनुसरण नहीं किया, बल्कि अपने शुरुआती वर्षों में उथल-पुथल भरे उत्तर प्रदेश में कोयला मंत्रालय में एक अधिकारी से लेकर सचिव तक और फिर केंद्रीय सरकार में स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया तथा सभी तरह के जोखिमों व चुनौतियों का सामना जुनून के साथ त्वरित निर्णय लेते हुए किया और अपनी बेहतर क्षमता की छाप छोड़ी। वे हमेशा से ही आर. एस. बी. वाई. और प्रोजेक्ट मैनेजमेंट ग्रुप (पी. एम. जी.) जैसे स्टार्टअप शुरू करने के इच्छुक थे। हालाँकि विकास और पारदर्शिता में तकनीक के प्रभाव की उनकी कल्पना-दृष्टि ने उन्हें कई तरह के नए प्रयोगों में सफलता दिलाई थी, जैसे—आर. एस. बी. वाई. में बायोमीट्रिक पहचान से लेकर पी. एम. जी. पोर्टल और कोयले के क्षेत्र में इ-नीलामी आदि।

पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार की निर्णय लेने की क्षमता कमजोर हुई है और इस दीर्घसूत्रता का श्रेय 5 सी (सी. बी. आई., सी. बी. सी., सी. ए. जी., सी. आई. सी. और कोर्ट्स) को जाता है। अनिल ने बहुत ही बेबाकी से लिखा है कि किस तरह से इसने शासन को पंगु किया है। सेवा में रहते हुए अनिल का इस विषय पर कहना वाकई बहादुरी भरा था।

यह अनिल का जुनून ही है कि अपने अगले जन्म में भी वे एक आई. ए. एस. अधिकारी के रूप में ही वापस आना चाहेंगे। उनकी यह बेबाक और रोचक पुस्तक उन सभी के लिए पठनीय है, जो भारतीय प्रशासन की जटिलताओं को समझना और उन कुछ बेहतरीन स्त्री-पुरुषों को जानना चाहते हैं, जिन्होंने अलग हटकर परिणाम दिए हैं।

— नंदन नीलेकणि

अध्यक्ष, इंफोसिस एवं संस्थापक अध्यक्ष यू. आई. डी. ए. आई. (आधार)

शुरुआती वर्ष

मेरा भविष्य शायद तभी तय हो गया था, जिस दिन मैंने जन्म लिया था और यह मेरे पिता ने ही किया था। उन्होंने भी इंजीनियर बनने का अपने पिता का सपना पूरा किया और फिर एक आई.ए.एस. अधिकारी को मिलनेवाले सम्मान और पहचान को देखकर वे चाहते थे कि उनका बेटा 'विशिष्ट वर्ग' वाली भारतीय प्रशासनिक सेवा की नौकरी करे। इसी का खयाल रखते हुए मेरी स्कूली शिक्षा की योजना बनाई जाने वाली थी। चूँकि वे सरकारी नौकरी में थे और इसमें अकसर तबादले होते रहते थे, इसलिए उन्होंने मुझे हॉस्टल में रखने का तय किया। कई बार के असफल प्रयासों के बाद आखिरकार मुझे नैनीताल के मशहूर स्कूल शेरवुड में दाखिला मिल गया। हालाँकि घर की याद मुझ पर बुरी तरह हावी थी, परिणामतः मैं घर वापस आ गया। दोबारा फिर कोशिश की गई और इस बार लखनऊ का मशहूर कॉल्विन ताल्लुकदास कॉलेज था। मैंने यहाँ से भी भाग जाने की अपनी भरपूर कोशिश की, पर इस बार मेरी माँ मेरी इच्छा के खिलाफ पूरी तरह से अड़ गई। जब उन्हें लगा कि उनका यह काम मेरी बेहतरी के लिए था, तब उन्होंने इसका कठोरता पूर्वक पालन किया। उन्होंने अपनी अधिकांश शिक्षा अपने विवाह के बाद ही पूरी की थी। इसलिए वे उत्कृष्ट शिक्षा के महत्त्व को भी समझती थीं।

कॉल्विन में दाखिले से पहले मैंने एक भी पुरस्कार नहीं जीता था, हालाँकि मैं जीतना बहुत चाहता था। उन तकलीफों वाले दिनों में यह मेरे पिता का अनुशासन और माता का निरंतर प्रोत्साहन ही था, जिसने मुझे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने मुझे इसे छोड़ने की अनुमति नहीं दी। मैं इस वास्तविकता के प्रति भी सजग था कि मुझे सिर्फ अपने लिए ही नहीं, बल्कि उनके लिए भी सफल होना है। मेरी आत्म-प्रेरणा ने ही मुझे कई क्षेत्रों में कुशलता प्रदान की।

शिक्षा के क्षेत्र में मेरी अगली मंजिल पहले से ही तय थी। मेरे पिता योजना के मामले में ही बहुत सावधान नहीं थे, बल्कि उनके कार्यान्वयन में भी कुशल थे। मैं अब इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दाखिले के बाद मुझ अमरनाथ झा हॉस्टल जाने वाला था। वह जगह लोक सेवा के प्रतिभागियों की तैयारी के लिए जानी जाती थी। पाठ्यतर क्रिया-कलापों में उपलब्धियों के कारण हॉस्टल में मेरी एक पहचान बन चुकी थी। शैक्षणिक विषय के मामले में अब मैं विज्ञान से कला में आ चुका था। बारहवीं में नीरसता भरे कठोर परिश्रम कर चुकने के बाद अब मेरे पास भाषा और व्यक्तित्व विकास के लिए पर्याप्त समय था। उच्चारण और लेखन दोनों में ही मेरी प्रस्तुति अच्छी नहीं थी, अतः इन्हें सुधारने के मेरे प्रयासों के दौरान मेरे हमउम्र मेरा मजाक उड़ाते थे। हालाँकि मैंने अपना प्रयास जारी रखा था।

मैं एक अच्छा वार्ताकार बनना चाहता था और इलाहाबाद विश्वविद्यालय ही था, जहाँ मुझे वाद-विवाद के क्षेत्र में आने का अवसर मिला और इस कोशिश में विषयों को कलमबद्ध करना पड़ता था और फिर उन्हें याद भी रखना पड़ता था। ऐसे ही एक अवसर पर जब मैं मंच पर पहुँचा, तब घबराहट में वह सबकुछ भूल गया, जो मैंने याद किया था। आखिरकार मुझे मंच से उतरना ही पड़ा।

मैंने एक अच्छा गायक होने का भी दावा किया था। आई.आई.टी., कानपुर के वार्षिकोत्सव में मुझे इसका अवसर मिला और मैं एकल गायक प्रतिस्पर्धा में भाग लेने जा रहा था। जैसे ही मैंने गाना शुरू किया, मुझे लगा कि मैं गलत सुर में था। समझदार श्रोताओं को मेरे सुधरने से पहले ही उसके बेसुरेपन का पता चल गया और मेरे खिलाफ शोर मचाना शुरू हो गया। अब मैं बिल्कुल ही टूट चुका था। अगले दिन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी और मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अमरनाथ झा छात्रावास का प्रतिनिधित्व कर रहा था। मैं श्रोताओं का सामना करने के लिए मानसिक रूप से तैयार भी नहीं था। मेरे वरिष्ठों में से एक संजय श्रीवास्तव, जो कि आगे चलकर एक बेहतर आई.ए.एस. भी साबित हुए, ने मुझे अतीत को भूलकर वाद-विवाद प्रतियोगिता पर केंद्रित करने को कहा। इस उत्साहवर्धक वार्ता का बहुत ही अधिक असर हुआ। अगले दिन जब मेरे नाम की घोषणा हुई, तब श्रोताओं में फुसफुसाहट थी कि 'वही गायक'। हालाँकि मेरे भीतर का वार्ताकार जीवित था और प्रतियोगिता में मुझे प्रथम पुरस्कार मिला, और तब से मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

कोटारी आयोग की रिपोर्ट ने लोक सेवा की प्रतियोगी परीक्षा को एक नया आयाम दिया था। किसी भी तरह के पूर्व उदाहरण के अभाव में इस इम्तिहान की तैयारी वाकई थका देनेवाली थी। मैंने इसके लिए काफी पढ़ाई की और काफी कुछ सीखा। इसका परिणाम था कि मैं अपने पहले प्रयास में बेहतर नहीं कर सका, क्योंकि मुझे सीमित समय में प्रश्नों के उत्तर देने में कठिनाई महसूस हुई। मैं आई.ए.एस. तो नहीं, पर भारतीय पुलिस सेवा के लिए चुन लिया

गया। मेरी इस उपलब्धि ने मेरे पिता को बहुत अधिक सम्मोहित नहीं किया। वे हतोत्साहित भी थे। उन्होंने कभी नहीं सोचा था कि मैं उन्हें कभी असफल करूँगा। अब मैंने कुछ परिवर्तन करने का तय किया और दूसरे प्रयास में प्रश्नों के उत्तर समय सीमा में ही दिए। इसका परिणाम सकारात्मक हुआ और दूसरी बार मैं भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा में सफल हो गया।

□

पुलिस अकादमी : बेचैनी भरे दिन और बिना नींद की रातें

भारतीय पुलिस सेवा के इम्तिहान को पास करने और आई.ए.एस. के दूसरे प्रयास से पहले मुझे राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद जाना पड़ा था। शुरुआत के वर्षों में राष्ट्रीय पुलिस अकादमी उन अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान करती थी, जो आई.पी.एस. उत्तीर्ण कर लेते थे। यहाँ की समय सारिणी, यानी कार्यक्रम अति व्यस्तता वाला था। हमें सुबह जल्दी उठकर परिसर में दौड़ लगानी और व्यायाम करना पड़ता था तथा दोपहर में देर तक कक्षाएँ चलती थीं।

पुलिस अकादमी की इतनी व्यस्त जीवन-शैली के बीच भी परिविक्षार्थियों ने आपसी मेल-जोल का समय निकाल ही लिया था। एक बार मेरा एक सहकर्मी अपनी एक समस्या लेकर मेरे पास आया, जिससे हम सभी का सामना होता है—“मैं रात भर सो नहीं सका।”

मैंने उससे पूछा, “तुम क्यों नहीं सो सके?”

उसके जवाब ने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया, “पेट्रोल का दाम बहुत बढ़ गया है और यह हमारे देश की बहुत बड़ी समस्या है। मैं बेचैन हूँ।”

मैं थोड़ा हैरान हुआ और बोला, “क्या तुम इसमें कुछ कर सकते हो?”

“नहीं, मैं क्या कर सकता हूँ? पर मैं परेशान हूँ, क्योंकि इससे मुद्रास्फीति की दर बढ़ेगी।”

मैंने कहा, “जब तुम इसमें कुछ कर नहीं सकते हो, तब इसके लिए रात भर जागना व्यर्थ है।”

वह इस पर सहमत था और कुछ पलों के लिए शांत भी दिखा। मैंने सोचा कि सब ठीक हो गया, पर मैं गलत था। एक-दो महीने बाद वह मेरे पास फिर आया और बोला, “मैं अभी भी रात को सो नहीं पा रहा हूँ।”

“क्यों? पेट्रोल के दाम तो अब स्थिर हैं।” मैंने कहा।

“इस समय पेट्रोल का दाम समस्या नहीं है।” उसने जवाब दिया।

“तब अब क्या परेशानी है?” मैंने जानने की कोशिश की।

मुझे उसका जवाब काफी मजेदार लगा, “भारत में जनसंख्या वृद्धि एक बड़ी समस्या है।”

मैं उससे सहमत था, पर मैंने उसे जवाब दिया कि भविष्य में रात भर जागने से वह जनसंख्या की समस्या को सिर्फ बढ़ाएगा ही। उसे शायद संकेत समझ में आ चुका था और फिर वह दोबारा मेरे पास कभी नहीं आया।

पुलिस अकादमी में हमारे प्रशिक्षण को एक अति उत्साही असिस्टेंट डायरेक्टर ऑफ आउटडोर ट्रेनिंग (ए.डी.ओ.टी.) ने काफी तकलीफदेह बना दिया था। हम उन्हें आई.डी.आई.ओ.टी. (I.D.I.O.T.) पुकारना ही पसंद करते थे। हमने स्वयं को गिनीपिग की तरह इस्तेमाल किए जाने के असामान्य व्यवहार का सामूहिक विरोध भी किया था। मैराथन दौड़ में सहयोगी धावक का चयन किए जाने के लिए हम सभी को यकीन दिलाया गया था कि हममें से सबसे थुलथुल व्यक्ति ही प्रथम आया था।

चूँकि मेरा चयन भारतीय प्रशासनिक सेवा में हो गया था, इसलिए मुझे अकादमी के प्रशिक्षण को बीच में ही छोड़कर जाना पड़ा था। इससे संभवतः वहाँ के निदेशक को राहत मिली होगी, क्योंकि मैं उनके लिए निरंतर रूप से अनुविधा बनता जा रहा था। मुझे वहाँ के बेहतरीन अधिकारियों को छोड़ते हुए दुःख हो रहा था। उनके साथ बिताए गए उन यादगार पलों का मैं आज तक आनंद लेता हूँ।

प्रशासन की राष्ट्रीय अकादमी : आनंददायक अनुभव

इससे बेहतर और कुछ हो ही नहीं सकता था। पुलिस अकादमी की घिसाई के बाद पहाड़ों की रानी मसूरी में लाल बहादुर शास्त्री नेशनल एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन में रहना बिल्कुल स्वर्ग में रहने जैसा था। उभरते हुए लोक-सेवकों को प्रशिक्षित करने का यहाँ एक उपयुक्त वातावरण था। इंडियन सिविल सर्विस, जिसका गठन अंग्रेजों ने भारत पर शासन करने के लिए किया था और स्वतंत्रता के बाद जिसका नाम 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' कर दिया गया। सन् 1959 से पहले प्रशासनिक अधिकारियों को प्रशिक्षण दिल्ली में मेटकाफ हाउस में दिया जाता था। बाद में दो साल का यह प्रशिक्षण मसूरी स्थानांतरित कर दिया गया। इस प्रशिक्षण के अलावा यहाँ देश के अन्य हिस्सों से प्रतिभा के आधार पर सेवा के लिए चयनित अधिकारी प्रशिक्षार्थियों से निकटता का भी अवसर मिलता था। मुझे पूरे कार्यकाल के दौरान इस साथ का लाभ मिला। चाहे पर्वतारोहण हो या फिर गाँवों की यात्रा, इस प्रशिक्षण के दौरान आपस में एक-दूसरे को समझने की भी अनुकूलता थी। यहाँ की बहुत सी न भूलनेवाली स्मृतियाँ भी हैं। हालाँकि एक महिला सहकर्मी के साथ हुए एक परिविक्षार्थी के दुर्व्यवहार की घटना ने इस अविस्मरणीय अनुभव को किरकिरा भी बना दिया था और इस घटना ने एक स्थायी धब्बा भी लगा दिया था। इस फाउंडेशन कोर्स के बाद जो लोग आई.ए.एस. के प्रशिक्षण से अलग थे, वे वापस लौट गए। फेज-1 के इस प्रशिक्षण के बाद अपने उन मित्रों से बिछड़ने का दुःख भी हुआ और इसने वातावरण को थोड़ा गमगीन भी बना दिया था। अकादमी के अध्यापकों एवं कर्मचारियों पर व्यंग्य और उनकी नकल उतारना वहाँ के दिनों की खास घटनाएँ थीं। उन हलके-फुलके मजेदार व्यंग्यों का सभी आनंद लेते थे। वहाँ के लोगों में बहुत ही अधिक विनोदप्रियता थी। श्री सुंदर बुरा का वह धीमे-धीमे बोलना और नरेश प्रसाद (जिन्हें हम 'नैनू' पुकारते थे) की नकल उतारना, श्री रवि मोहन सेठी का लहजा और श्री आलोक सिन्हा की भंगिमा और चाल की मंच पर नकल कोई भूल नहीं सकता, जबकि वे उन दिनों अकादमी के उपनिदेशक थे। उन दिनों के संयुक्त निदेशक श्री एस.सी. वैश की दौत पीसकर बोलने की मजेदार नकल भुलाई नहीं जा सकती है।

'भारत दर्शन' का भी आनंद अलग ही था। सभी अधिकारियों को पाँच समूहों में बाँट दिया गया और देश भर में भेजा गया, ताकि एक उभरते हुए प्रशासक की नजरों से वे इसे देखें और पहचानें। इस आनंद यात्रा में आदिवासी गाँवों से लेकर सीमा क्षेत्रों की सेना की टुकड़ी का भी क्षेत्र शामिल था, ताकि व्यक्ति इन्हें अपने सहयोगियों से अधिक समझ सके। हमारे समूह में एक उत्साही धावक भी थे, जिन्हें सुबह उठकर दौड़ने की आदत थी। चाहे परिस्थितियाँ जैसी भी हों और यदि बारिश होती थी, तब वे अपनी दौड़ बाथरूम में ही कर लेते थे। वैसे वे जरूरत से ज्यादा टेलकम पाउडर के इस्तेमाल के लिए भी जाने जाते थे। कुछ लोग हमेशा शराब की दुकानों की तलाश में रहते थे। उन्हीं दिनों की एक मजेदार घटना भी है, जब गोवा में आधी रात को हम एक समुद्री तट पर लाल बत्ती क्षेत्र में भटक गए थे। हम असमय मोरमुगाव पहुँच गए और वहाँ का दृश्य उभरते हुए नौकरशाहों के लिए परेशानी वाला था, पर हममें से एक-दो लोग उस 'खजाने' को देखकर रोमांचित भी थे।

उनके अनुसार, यह दुनिया सभी चीजों से मिलकर बनी है...और यह नौकरशाहों के लिए भी सही था।

ताश का खेल : जिसने मेरी दुनिया बदल दी

अंग्रेजों की परंपरा का अनुसरण करते हुए आज भी कलेक्टर/जिलाधिकारी ही जिले के प्रशासन का प्रमुख होता है। ब्रिटिश काल के दौरान इनका प्रमुख कार्य कर इकट्ठा करना और कानून व्यवस्था को बनाए रखना था। हालाँकि स्वतंत्रता के बाद और समय के साथ इनकी भूमिका में काफी परिवर्तन आया है और इनका कार्य विकास कार्यों की तरफ मुड़ गया है; साथ ही ये परिविक्षाधीनों के परामर्शदाता भी होते हैं। मेरे पहले बाँस वाकई मेरे मार्गदर्शक थे, खासतौर से उत्तर प्रदेश के मामले में; पर अब स्थिति और भी खराब है। हालाँकि वे बहुत दिनों तक नहीं रहे और उनकी जगह एक नए अधिकारी आ गए थे। व्यावहारिकता के अनुसार, मैं उनसे मिलने उनके निवास स्थित कार्यालय में गया। नए अधिकारी अकसर घर से ही अपना रुतबा दिखाते हैं। पहले से ही उनके स्टेनो को सूचित करने के बावजूद मुझे इंतजार कराया गया। मैंने उमस भरी गरमी में प्रतीक्षालय में तकरीबन दो घंटे तक इंतजार किया, जहाँ और भी बहुत से आगंतुक उनके 'दर्शन' का पहले से ही इंतजार कर रहे थे। चूँकि उनकी तरफ से मेरे लिए कोई संदेश भी नहीं आया, इसलिए मैंने वहाँ से जाने का तय किया। कलेक्टर ने इसकी परवाह भी नहीं की थी और न ही मैंने। उन्हें अपना चेहरा दिखाए जाने की अयोग्यता के बावजूद मेरा प्रशिक्षण जारी रहा और यही इस व्यवस्था की खूबसूरती भी थी। उन्हें इस बात से परेशानी नहीं थी कि मैं उनकी योजनाओं के अनुरूप नहीं था और मैंने उन्हें परेशान किया भी नहीं था। वैसे ध्यान दिए जाने के लिए अलग तरह के गुणों की जरूरत थी।

नववर्ष की संध्या थी और ऑफिसर्स क्लब में मेल-मिलाप के समारोह का आयोजन था। जिले में कुछ महीने बिता चुकने के बाद मेरे वहाँ कुछ मित्र भी बन चुके थे। हमने वहाँ ताश खेलना शुरू कर दिया और फिर इसमें जिलाधिकारी भी शामिल हो गए। जैसे ही घड़ी ने रात के बारह बजाए, हमने एक-दूसरे को बधाइयाँ दीं और फिर ताश खेलने लगे। मैं खेल में जीतता गया और मेरे बाँस 300 रुपए हार गए। उन दिनों यह रकम महीने की मेरी तनख्वाह की एक-चौथाई थी। इस समय सुबह के शुरुआती घंटों का समय था और हम खेल खत्म करके घर आ गए, ताकि थोड़ी देर सो सकें। तकरीबन 11:30 बजे मेरे दरवाजे पर दस्तक हुई और दरवाजा खोलने पर मुझे एक लिफाफा दिया गया, जो कि कलेक्टर की तरफ से भेजा गया था। उसके अनुसार, मुझे एस.डी.एम. नियुक्त किया गया था। मेरे लिए यह बिल्कुल ही अप्रत्याशित था, क्योंकि मैं अभी परिविक्षाधीन ही था। (सबसे विचित्रता तो यह थी कि इन्हीं कलेक्टर ने मेरे एक सहपाठी को इसी पद के लिए अस्वीकार कर दिया था, जबकि वह प्रशिक्षण भी पूरा कर चुका था। इसकी वजह यह भी थी कि उसने कलेक्टर के बाँस मंडल आयुक्त की बेटी से विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।) शायद ताश के खेल की उपलब्धि ही मेरी पहचान बनी थी।

सत्य की तलाश

सवारी गाड़ी में अधिक सवारी ढोने का एक मामला मुझे याद आता है। मैं उन दिनों कसिया (कुशीनगर) में नियुक्त था। यह स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले का उपखंड है तथा यहाँ से बिहार की सीमा भी लगती है। मैं इस क्षेत्र में चल रहे इस व्यवसाय के तरीके से भी परिचित नहीं था। उस वाहन में 21 सवारियाँ ढोई जा रही थीं, जो कि अनुमति सीमा से काफी अधिक थीं।

उन दिनों एक्जीक्यूटिव मजिस्ट्रेट यातायात नियमों के उल्लंघन के मामले भी देखा करते थे। उस दिन भी न्याय कक्ष कई तरह के मामलों से ठसाठस भरा था। जब अभियोजनकर्ता ने उस अतिभार वाली टैक्सी के बारे में बताया तो मुझे यकीन ही नहीं हुआ। मेरी समझ के अनुसार, एक यात्री वाहन किसी भी स्थिति में 21 सवारियों को नहीं ढो सकता था। मैंने उस मामले को जबरदस्ती के दबाव का मामला मानते हुए खारिज कर दिया।

कुछ दिनों बाद मैं उस क्षेत्र से परिचित भी हो गया। एक दिन जब मैं अपने उपखंड में जा रहा था, तब मैंने दूसरी तरफ से अधिक सवारी लेकर आती हुई गाड़ी देखी। जिज्ञासावश मैंने उसे रोका और सवारियों को उतरने के लिए कहा। वह एक अद्भुत दृश्य था। सवारियाँ लगातार उतरती ही जा रही थीं। वे उस वाहन की तकरीबन सभी खड़ी होनेवाली जगहों पर थीं और उनमें से कुछ तो झाड़वर के दोनों ही तरफ बैठी थीं। उनकी संख्या गिनने पर 23 निकली। यह उस सवारी गाड़ी से दो अधिक थीं, जिसे मैंने कुछ दिनों पहले ही छोड़ा था।

मैंने महसूस किया कि देश के इस हिस्से में कुछ भी हो सकता है।

विशेष प्रकार की प्रबंधकीय कुशलता

शिक्षा, जो प्रबंधकीय स्कूलों में नहीं मिलती

सन् 1990 का साल था। मैं लखीमपुर खीरी में जिला मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त था। शहर के बाहरी हिस्से में स्थित एक बैंक की शाखा को कुछ हथियारबंद सिख आतंकवादियों ने लूट लिया था। मैं तुरंत ही वारदात वाली जगह की तरफ भागा। उन दिनों वहाँ के पुलिस अधीक्षक डॉ. हरीशचंद्र सिंह ने मुझे संदेश भेजा कि वे भी वहाँ पहुँच रहे हैं। बाद में उस साहसी पुलिस अधीक्षक को उस स्थिति पर कुशलतापूर्वक काबू पाने के लिए पुरस्कार भी प्रदान किया गया। लखीमपुर खीरी अपने आतंकवादी हमलों के लिए कुख्यात रहा है और मेरे लिए उस नई नौकरी का यह एक तकलीफदेह परिचय था। मैंने वह पद अभी कुछ ही महीने पहले सँभाला था और इस तरह की स्थिति में मैं अपनी भूमिका के बारे में भी स्पष्ट नहीं था। वाकई अठारह घंटे चली इस लंबी मुठभेड़ में जब पाँचों आतंकवादी मार गिराए गए, तब मैंने महसूस किया कि मैंने तो एक भी गोली नहीं चलाई थी। उस समय का प्राथमिक कार्य उत्तेजित लोगों की भीड़ को सँभालना था, जो कि उस कार्रवाई में पुलिस का सीधा सहयोग देने के लिए उतावली थी। प्रशासन के प्रति स्थानीय लोगों के इसी उत्साह ने वहाँ किसी भी तरह की हड़ताल नहीं होने दी थी।

मैं लगातार वहाँ के आतंकवादियों की हिट लिस्ट में रहा, पर वह पेशे का जोखिम और जीवन भर का अनुभव था। घटनास्थल पर जिलाधिकारी की मौजूदगी ने न केवल पुलिस बल का मनोबल बढ़ाया, बल्कि पुलिस की मुठभेड़ की न्यायोचितता को भी संदेह-रहित किया; जबकि साथ के पीलीभीत जिले की पुलिस को झूठे मुठभेड़ के मामले में खींचा गया था। 6 फीट से भी अधिक ऊँचे और तगड़े लोगों के पास एके-56 राइफलें भी थीं; पर उन्हें वरदीधारी लोगों और आसपास के लोगों के उत्साह ने हरा दिया था। इस तरह की युद्ध जैसी स्थिति में परंपरागत कुशलता किसी काम की नहीं थी।

सन् 1990 में उठा रामजन्मभूमि का मुद्दा उन सभी के लिए इम्तिहान था, जो उस समय अपने जिले के प्रभारी थे। चारों तरफ सांप्रदायिकता का तनाव था और तकरीबन आधे से अधिक जिलों में कर्फ्यू लगा था। इस मामले में लखीमपुर खीरी के बारे में गर्व से कहा जा सकता था कि वहाँ बिना कर्फ्यू लगाए ही तनाव नियंत्रण में था और यह स्थिति थोड़ी कीमत पर ही हासिल हुई थी। सभी अधिकारी चौबीसों घंटे लगातार अपनी ड्यूटी पर चौकस थे। उन्हें कई रातें कोतवाली में ही गुजारनी पड़ी थीं। वह एक युद्ध जैसी स्थिति थी और किसी को भी यह यकीन दिलाना था कि प्रशासन सजग है। ऐसी परिस्थिति, जो कि सार्वजनिक शांति भंग कर सकती हो, को सँभालने के लिए जिस कुशलता की आवश्यकता होती है, वह शिक्षा प्रबंधकीय स्कूलों में नहीं मिलती। कठिन परिस्थितियों में व्यक्ति की अपनी सहन क्षमता और हौसले से इसका आकलन होता है।

रामजन्मभूमि लहर से पहले उत्पन्न 'मंडल' की स्थिति को सँभालने के लिए एक अलग तरह की कुशलता की जरूरत थी। प्रशासन को अपरिपक्व युवा मस्तिष्क को सँभालना था, जो कि दिशा विशेष की तरफ प्रेरित था और उनमें नकारे जाने का भी भाव था। इस समय प्रशासन को फिर से इस अव्यवस्था को सँभालने के लिए कहा गया था, जो कि कुछ लोगों के हाथों के खेल का परिणाम थी। कई बार युवाओं को विश्वास दिलाने के लिए कि 'मंडल' के परे भी भविष्य है, व्यक्ति में एक कुशल वक्ता की काबिलीयत की आवश्यकता पड़ती थी। स्थिति को बेहतर बनाने के लिए यह तर्क काफी नहीं था; पर व्यक्ति के पास बहुत ही कम विकल्प थे।

उन दिनों अधिकांश समय निर्मित संकटों को सँभालने में ही खर्च हो जाता था। संकट प्रबंधन की यह भी एक शिक्षा थी। जिले के मेरे सहकर्मियों ने मुझे बताया था कि बाद के वर्षों में स्थिति और भी खराब हुई। प्रत्येक दो साल या इससे भी कम समय में बदलनेवाली सरकारों के कारण जिलाधिकारी के तबादलों का औसत समय एक साल से भी कम का हो गया था। इसी वजह से राजनेता प्रबंधन और संकट-जनित स्थिति उत्पन्न हुई। जिनमें राजनीतिज्ञों के प्रबंधन की कुशलता थी, उनका समय काल लंबा था। हालाँकि सबकुछ कहा और किया जा चुका है तथा जिला मजिस्ट्रेट की संस्था के क्षरण के बावजूद इसके पास अभी भी बहुत अधिक प्रशासकीय शक्तियाँ हैं एवं किसी भी पारंपरिक प्रबंधकीय क्षमता का आकलन नहीं किया जा सकता है। तकरीबन आधी शताब्दी से यह स्थापित व्यवस्था जारी है और जिला मजिस्ट्रेट के चरित्र एवं क्षमता के बावजूद बहुत से क्रिया-कलाप होते रहते हैं। कई अर्थों में, वह अभी भी 'भूरा साहब' है, बशर्ते उसने इस संदर्भ के कुछ लोगों के साथ अपनी कुशलता बढ़ाने के लिए समय बिताया हो। चाहे कर वसूली हो या विकास एवं कानून व्यवस्था हो, जिलाधिकारी को बिना किसी चुनौती का सामना किए ही हमेशा अपने योग्य अधीनस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। अब चूँकि कार्यकाल का समय बहुत ही कम होता

है, अतः वह इससे बचकर निकल भी सकता है। हालाँकि एक प्रतिबद्ध जिलाधिकारी यदि चाहे तो बहुत कुछ कर सकता है, जिसमें अपने अधीनस्थों की शिकायतों का निवारण, विकास का प्रोत्साहन और कर सुधार व्यवस्था भी शामिल है। इस कार्य की यथापूर्व स्थिति के बावजूद जिलाधिकारी के प्रयास को सराहना और स्वीकृति मिलती ही है।

□

यस, चीफ मिनिस्टर

सन् 1991 के उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों के दौरान चुनाव आयोग ने इटावा विधानसभा क्षेत्र में चुनाव को निरस्त कर दिया था। हालाँकि भाजपा ने बहुमत के साथ कल्याण सिंह के नेतृत्व में सरकार बनाई थी। मेरी नियुक्ति सूचना निदेशक के पद पर हुई थी, पर मैं इससे पहले कल्याण सिंह से कभी मिला नहीं था। बाद में मुझे पता चला कि यह पद कितना संवेदनशील था।

मुख्यमंत्री आवास पर सुबह-सुबह अनौपचारिक वार्ता चल रही थी। वहाँ मुख्य सचिव और पुलिस विभाग के उप-निदेशक भी उपस्थित थे। इटावा के उपचुनाव के लिए एक दिन में बड़ी संख्या में रैलियों (सात) को संबोधित करने को लेकर मुख्यमंत्री उत्तेजित व परेशान थे। उन्होंने अपने निजी सचिव को जिलाधिकारी से संपर्क करने के लिए कहा, ताकि अंतिम दो रैलियों को निरस्त किया जा सके। यद्यपि मैं इस कार्यभार के लिए नया था और उनकी राजनीतिक रैलियों से मेरा कोई मतलब भी नहीं था, फिर भी मैंने बिना माँगे परामर्श दिया। मैंने उनसे कहा कि अंतिम समय में रैलियों को निरस्त करना उचित नहीं होगा। जिलाधिकारी के अपने हाल के अनुभवों के आधार पर मैंने उनसे कहा कि निचले स्तर पर लोगों को बहुत उम्मीदें भी होंगी। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मुख्यमंत्री को मेरा दखल अच्छा नहीं लगा, कम-से-कम शुरुआत में तो ऐसा ही था। उन्होंने जवाब दिया, “एक दिन में इतनी अधिक रैलियों को संबोधित करने की आशा आप मुझसे कैसे करते हैं?”

मुख्य सचिव ने अपना सिर मुख्यमंत्री की सहमति में और उनकी परेशानी को समझते हुए तेजी से हिलाया और साथ ही मुझे शांत रहने का इशारा भी किया। हालाँकि मैं बिना रुके जारी रहा। मैंने बहुत ही विनम्रता के साथ मुख्यमंत्री से कहा कि मेरा परामर्श मेरे पेशे के दृष्टिकोण के अनुसार था और इस पर अंतिम निर्णय आप पर निर्भर है। लगभग आधे मिनट तक वहाँ शांति छाई रही (मेरे लिए यह कुछ अधिक ही थी) तथा मुख्य सचिव लगातार मुझे शांत रहने का इशारा करते रहे। अंत में, मुख्यमंत्री ने चुप्पी तोड़ते हुए कहा, “अनिलजी, आप ठीक कह रहे हैं।” वे इस बात से सहमत थे कि पूर्व निर्धारित रैलियों को निरस्त करना उचित नहीं होगा। मुख्य सचिव भी तुरंत ही उनके साथ सहमत थे और मेरे लिए यह संतोष की स्थिति थी कि अब उनका मुझे रोकना भी रुक गया था।

उद्योग बंधु : सहूलियत देनेवाले का कार्य

ब्रिटिश काल के दौरान जिलाधिकारी के कार्यालय को बहुत ही सम्मान और कौतूहल के साथ देखा जाता था। स्वतंत्रता के बाद उसका यह स्तर थोड़ा कम हुआ, पर सम्मान अभी भी था। जिलाधिकारी अभी भी जिला प्रशासन का प्रमुख होता है तथा जिला स्तर पर सरकार का औपचारिक प्रतिनिधि भी है। इसके विपरीत उद्योग बंधु, यानी कार्यकारी निदेशक का कार्यालय उतना प्राधिकार वाला नहीं था। उद्योग बंधु की स्थापना उत्तर प्रदेश में औद्योगिकीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए की गई थी। उस अनिश्चित कार्यकाल और तकरीबन निर्विवाद प्राधिकार की तुलना में अब मुझे सन् 1995 में उद्योग बंधु के पद पर नियुक्त किया गया था, जहाँ कार्यकाल तो सुनिश्चित था, पर वैसा प्राधिकार नहीं था। अब मुझे सभ्य और प्रत्यक्षतः विनम्र उद्यमियों के साथ संपर्क करना था। यहाँ इस्तेमाल की जानेवाली भाषा अलग थी तथा श्रोता भी अधिक भद्र थे। अब मुझे समाज के खास वर्ग के घावों पर मरहम लगाना या फिर जिले भर में प्रशासनिक आदेश के पालन की सुनिश्चितता नहीं करनी थी। वाकई मेरी भूमिका का कार्याकल्प हो चुका था और अब यह एक सहूलियतकर्ता का था। जिलाधिकारी के रूप में मेरी स्थिति सरकारी तंत्र की थी, जो कि एक आम आदमी की समस्याओं का समाधान करती थी और अब मेरा काम बनाए गए अवरोधों को दूर करने की कोशिश करना था; क्योंकि सरकार औद्योगिकीकरण के मार्ग को अवरोध-रहित करना चाहती थी। मैं अब सामानों की आपूर्ति एवं आदेश जारी करनेवाला तथा उनकी सुनिश्चितता प्रदान करनेवाला नहीं रह गया था। मेरा कार्य अब उद्यमियों और सरकार के विभिन्न विभागों की मध्यस्थता करने का था। इस कार्य में मेरा सहयोग कठोर नौकरशाह नहीं, बल्कि पेशेवर करते थे। इसमें समस्याओं के आकलन और अनुभव से आसानी होती थी। अब जिले में आम नजर आनेवाली 'मुलाकातियों' और 'दर्शन' के लिए इंतजार करती कतारें नहीं नजर आती थीं।

जिलाधिकारी के कार्यकाल की तरह न होकर इस नए कार्य की सीमा निर्धारित नहीं थी। जिले में ऐसे कई अवसर होते थे, जब व्यक्ति अपनी सीमा से परे भी जाता था। हालाँकि कानून और व्यवस्था की पूर्ण मानसिकता के कारण व्यक्ति के पास ऐसी सक्रिय क्रियाशीलता के लिए मुश्किल से ही समय होता था। इस नई व्यवस्था में ऐसा नहीं था, बल्कि इसने क्रियाशीलता के लिए भरपूर समय और पेशेवर सहयोग उपलब्ध कराया था। इस प्रकार, उत्तर प्रदेश में निवेश के लिए देश के बाहर और भीतर प्रयास किए जा रहे थे। उत्तर प्रदेश में औद्योगिकीकरण की क्षमता में आकलन और फिर वाक्शक्ति की मेरी योग्यता को एक आकार दिया गया। हालाँकि यह परिवर्तन आसान नहीं था, क्योंकि जिलाधिकारी के रूप में काम करना और सहूलियतकर्ता—दोनों में अंतर था। एक सहूलियतकर्ता को बाहर जाकर लोगों से मिलना और प्रदेश में जो बेहतर है, उसके लिए उन्हें भरोसा दिलाने का काम था। इन दोनों के कामों में एक खास समानता थी और जो विचार के स्तर पर अति सुखद भी थी कि जिलाधिकारी एवं कार्यकारी निदेशक दोनों के ही कामों में यह दृढ़ धारणा थी कि राजनीतिज्ञों व नौकरशाहों के साथ बहुत कुछ किया जा सकता था। वैसे, इसका अंतिम सिरा अभी भी दूर था। “विवेक की बहती निर्मल धारा ने अभी भी मृतप्राय आदतों के रेगिस्तान में अपना पथ नहीं छोड़ा है।”

द पिकअप की कहानी : डूबते जहाज को बचाना

‘टाइम्स ऑफ इंडिया’ ने 24 अप्रैल, 2005 के अपने पत्र में एक ऐसी संस्था की परिवर्तित स्थिति के बारे में लिखा था, जो कि पिछले नौ सालों से कर्ज में डूबी हुई थी। पत्र के अनुसार, यह अद्भुत कहानी नेतृत्व, पेशेवर दृष्टिकोण, कल्पना-दृष्टि और इन सबसे अधिक एक ऐसी उम्मीद के बारे में है, जो कि उत्तर प्रदेश के भविष्य को भी बनाती है। यह परिवर्तन मात्र दस महीनों में ही आया है।

15 जून, 2004 को मेरे पास संदेश आया कि मुख्य सचिव ने मुझे तुरंत बुलाया है। मैंने इसकी कल्पना भी नहीं की थी कि मुझे मेरे संपूर्ण कार्यकाल के सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य पर भेजा जाएगा। यह एक ऐसी संस्था थी, जिसे गर्व से देश के सर्वोत्तम संस्थानों में से एक होने का गौरव भी कहा जा सकता था; पर अब यह अपनी प्रतिष्ठा खो चुकी थी और पिछले दो महीनों से यह नेतृत्वहीन थी तथा इसके इतिहास में यह पहली बार था कि इसकी जिम्मेदारी कोई भी लेने के लिए तैयार नहीं था। मुझे खेद के साथ नियुक्ति प्रदान करनेवाले सचिव ने मुझे यह समझाने का प्रयास किया कि वे मुझे वहाँ क्यों भेज रहे थे। वैसे, यह मेरे लिए मायने नहीं रखता था, क्योंकि सरकारी आदेशों का हर हाल में पालन करना ही था। इस प्रकार कठिन और चुनौतीपूर्ण, पर अति आनंददायक पिकअप की यात्रा की शुरुआत हो रही थी।

प्रदेशीय इन्वेस्टमेंट कॉरपोरेशन ऑफ उत्तर प्रदेश (PICUP) की स्थापना सन् 1970 में उत्तर प्रदेश में लघु और मध्यम स्तर के उद्योगों के अर्थ प्रबंधन के लिए की गई थी। इसने शुरुआत के दो दशकों तक बहुत ही बेहतरीन ढंग से काम किया, पर अन्य बहुत से वित्तीय संस्थानों की भाँति इसमें भी नुकसान होना शुरू हो चुका था।

मैंने आदेश प्राप्त होने के साथ ही पिकअप में प्रबंध निदेशक का पद-भार सँभाल लिया था। जब मैं लखनऊ के उस आकर्षक भवन में पहुँचा, तब मैंने वहाँ एक तरह की मनहूसियत महसूस की। केवल वह संस्था ही अपनी बुरी स्थिति में नहीं थी, बल्कि वहाँ का वातावरण भी निराशाजनक था। यहाँ के अधिकारियों के साथ हुई शुरुआती चर्चा ने मेरी आशंकाओं को यकीन में बदल दिया था। यहाँ मुद्दा यह नहीं था कि कैसे, बल्कि कब यह संस्था अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो जाएगी। प्रमुख लेखाधिकारी ने रूआँसी हालत में बताया कि किस तरह 541 कंपनियों के ऋणदाता उन्हें परेशान कर रहे थे और कंपनी की देनदारी 900 करोड़ रुपए से भी अधिक हो चुकी थी। यहाँ की कुल हानि 500 करोड़ रुपए से अधिक की थी, जिसमें लगभग 365 करोड़ रुपए की लागत का क्षय भी हो चुका था। अधिकारी पिकअप को छोड़कर वैसे ही भाग रहे थे, जैसे डूबते जहाज से चूहे भागते हैं।

इस संकट में पड़ी संस्था को किस तरह से इससे निकाला जाए, इस सोच ने मुझे कई रातों तक सोने नहीं दिया और इसका तात्कालिक उपचार भी नहीं नजर आ रहा था। बहुत से वित्तीय बयानों के शुरुआती आकलन से भी इसके बचाव पर किसी तरह की रोशनी नहीं पड़ रही थी और किसी तरह का विकल्प भी समझ में नहीं आ रहा था।

लगभग एक सप्ताह तक बिना सोए रात गुजारने के बाद अचानक ही मुझे एक विचार कौंधा। यह संस्था अपने ब्याज को क्यों माफ कर रही थी, जबकि इसमें कुछ की वसूली हो सकती थी? यह अपने मूल ऋण को चुकाने के बजाय ब्याज चुकाने के लिए अपनी संपत्तियों को क्यों खत्म कर रही थी? इन्हीं सवालों के जवाब में इस संकटग्रस्त संस्था का इलाज था। सुबह होने से पहले एक कामचलाऊ प्रारूप तैयार हो गया और पूर्व में दिशा के साथ ही पिकअप का भाग्योदय भी हुआ।

इस प्रारूप पर संस्था के विरिष्ठ अधिकारियों के साथ चर्चा हुई और इसका नियम बहुत ही सरल था, “ब्याज देना बंद करो और धन का इस्तेमाल मूल ऋण को चुकाने में किया जाए।” उच्च अधिकारियों ने इस विचार पर सहमति जताई और पहली बाधा पार हो गई। इस पर एक औपचारिक प्रारूप बोर्ड के सामने पेश हुआ। वैसे अन्य विकल्प उपलब्ध भी नहीं थे, इसलिए बोर्ड अनमने मन से राजी हो गया। हमारे अधिकतर निदेशकों को लगता था कि ऋणदाता ब्याज छोड़ने पर तैयार नहीं होंगे, क्योंकि उनके बॉण्ड की सुनिश्चितता सरकार के द्वारा दी गई थी। और तो और, इन बॉण्ड्स को खत्म करने के लिए आवश्यक धनराशि भी उपलब्ध नहीं थी। हालाँकि काफी प्रयास और दबाव के बाद यह महत्वपूर्ण प्रस्ताव लागू हो गया था।

बोर्ड के इस प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए एक दल का गठन हुआ और एक अनौपचारिक संदेश सभी ऋणदाताओं के पास भेज दिया गया कि पिकअप, जो कि ब्याज दे पाने में असफल रही है, अतः वह अपने

ऋणदाताओं को एकमुश्त समाधान का प्रस्ताव देने की इच्छा है। शुरुआती अनिच्छा के बाद कुछ प्रस्ताव आए और फिर धीरे-धीरे उनका अनुसरण भी होने लगा। इन्हीं प्रस्तावों को अन्य ऋणदाताओं के पास भी भेजा गया। परिणामतः कॉरपोरेशन की बीमारी वित्तीय स्थिति का प्रचार एक सोची-समझी रणनीति के तहत किया गया।

दूसरी ओर, परिसंपत्तियों को समाप्त करने हेतु धनराशि के लिए कुछ शेयरों को बाजार में बेचने का प्रयास किया गया। इस उद्देश्य के लिए पहले साल में ही 100 करोड़ रुपये से अधिक की धनराशि उपलब्ध हुई तथा इसमें अनुकूल बाजार की स्थिति भी सहायक हुई थी। ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं।

सभी तरह के औपचारिक और अनौपचारिक संवाद माध्यमों का प्रयोग संदेश भेजने के लिए किया गया। कर्मचारियों से सीधे अनुरोध किया गया, ताकि उन्हें संस्था की योजना को समझाया जा सके। उच्च स्तर पर कटौतियाँ की गईं और ये क्रमशः निचले स्तर पर भी आईं। प्रबंध निदेशक ने स्वयं ही अपनी मिलनेवाली सुविधाओं से बहुत ही कम का इस्तेमाल करते हुए यात्राएँ कीं और बिना किसी औपचारिक आदेश के ही इसका असर अधीनस्थों पर भी पड़ा। इस प्रक्रिया से न केवल वित्त की बचत हुई, बल्कि इसने संस्था के पुनरुज्जीवन के कार्य में सभी को एक साथ जोड़ने का काम किया। खर्च को कम करने के लिए इसी तरह के कई कदम उठाए गए। अधिकारियों से फोन का इस्तेमाल करने की बजाय ई-मेल के लिए प्रोत्साहित किया गया तथा खर्च कम करने के लिए नई गाड़ियाँ, सुरक्षा इंतजाम तथा बड़े-बड़े अतिथि गृहों को कम किया गया। कार्य में पारदर्शिता के लिए पेपर और फाइलों को ट्रेकिंग पर रखा गया, जिससे अधिकारियों को निर्णय लेने में आसानी हुई।

चूँकि वहाँ वित्तीय संकट की स्थिति थी, इसलिए गैर-वित्तीय प्रेरक उपकरणों का उपयोग ही अधिकारियों को शामिल करने के लिए किया गया था। इस तरह की सफल शुरुआत, जिसे बेहतर पहचान भी मिली, ने हताश हो चुके कार्यबल में नई जान फूँकने का काम किया। प्रत्येक स्तर को निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल करने से प्रत्येक निर्णय की स्वीकार्यता को भी बल मिला। अधिकारियों में भी बिना किसी पूर्वग्रह के ही प्रबंधन के प्रति विश्वसनीयता बढ़ी। विश्वास से ही विश्वास उपजता है। ठीक यही पिकअप में भी हुआ। अधिकारियों में भी संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निजी स्वार्थों को छोड़ने की भावना उत्पन्न हुई और इस तरह एक नई कार्य-संस्कृति विकसित हुई।

ऋणदाताओं द्वारा अपने ब्याज को स्वेच्छा से छोड़कर अपने बकायों के निपटारे के लिए अधिक-से-अधिक संख्या में पहुँचने से संस्था में अविश्वास बढ़ना शुरू हो गया। वित्तीय वर्ष की समाप्ति पर 223 ऋणदाताओं ने अविश्वसनीय तौर पर लगभग 100 करोड़ रुपये के अपने ऋण का निपटारा करने का प्रस्ताव दिया। परिणामतः 35 करोड़ रुपये की बचत हुई। नौ साल के अंतराल के बाद पिकअप ने 40 करोड़ रुपये के लाभ की घोषणा की थी। संस्था के कर्मचारियों में अब आशा एवं विश्वास था कि वे बेहतर कर सकते हैं और उन्होंने किया भी। जैसे-जैसे संस्था ने स्वयं को पुनरुज्जीवित और अनुकूल बनाना शुरू किया, यह आत्मविश्वास तेजी से बढ़ा।

मूल देनदारी के खत्म होने के साथ ही ब्याज की देनदारी भी कम हुई और इस स्थिति के निरंतर बने रहने के कारण आगामी वर्षों में संस्था ने लाभ भी अर्जित किया। इसी आत्मविश्वास के कारण पिकअप ने ऋण देने की पारंपरिक भूमिका से परे देखना शुरू कर दिया, क्योंकि संस्था की खराब वित्तीय स्थिति के कारण इस पर बुरा असर पड़ा था। ऋण-वसूली के बेहतर परिणामों को देखते हुए बहुत से राष्ट्रीयकृत बैंकों ने पिकअप को अपना वसूली एजेंट नियुक्त किया। इस स्थिति ने आनेवाले वर्षों में पिकअप की आमदनी में भी वृद्धि की, क्योंकि पिकअप को इस तरह के कार्यों में कुशलता प्राप्त थी।

पिकअप अब प्रमुख परामर्शदाता संगठन बनने की दहलीज पर खड़ी थी। इसके साथ बहुत से इंजीनियर और प्रबंध स्नातक भी थे, जिन्होंने इसकी क्षमता की संभावना को और भी बढ़ाया, परिणामतः परामर्श विभाग बनने के साथ ही पिकअप के पास बहुत सी परियोजनाएँ आईं और बहुत सी आने के लिए तैयार थीं। इनका स्तर संपत्ति प्रबंधन से लेकर उत्तर प्रदेश राज्य औद्योगिक विकास निगम में सूचना तकनीक तक था।

संस्था अब जमीन से ऊपर बेहतर स्वरूप में आ चुकी थी।

दो गलत मिलकर एक सही नहीं होते

पिकअप के नीचे गिरने की वजह बहुत से बोज़ थे; परंतु उसकी एक वजह एक प्रभावशाली व्यक्ति भी था, जो कि एक प्रमुख दैनिक अखबार का प्रमुख पत्रकार था। उसकी बनाई कंपनी काफी बड़ी हो चुकी थी और एक अन्य पत्रकार, जो कि कई अखबारों में काम भी कर चुका था, वह भी इसमें शामिल था और अपनी ऊँची पहुँच के कारण भी जाना जाता था। इस कंपनी को भारी घाटा हुआ और फिर उन्होंने राज्य के वित्तीय निगम पिकअप की सहायता से शेयर के माध्यम से नई कंपनी बनाई। मौजूदा कंपनी के नुकसान को नई कंपनी में इन पत्रकारों ने आपस में साझेदारी के शेयरों में बाँट लिया। कुछ राजनेताओं और आला नौकरशाहों की कृपा से यह नई कंपनी अस्तित्व में आई। इसमें पहली गलती थी सार्वजनिक धन की लागत पर इसकी स्थापना। इस नई कंपनी को इन दोनों प्रस्तावक पत्रकारों को इसके क्रिया-कलापों की जानकारी वित्त निगम को देनी थी। हालाँकि उन प्रस्तावकों को सार्वजनिक धन के इस्तेमाल की किसी भी तरह की सूचना नहीं थी। यहाँ तक कि शेयर सर्टिफिकेट और आवश्यक सूचनाएँ भी निगम को नहीं दी गईं। इन प्रभावशाली लोगों पर किसी ने भी सवाल नहीं उठाए, यहाँ तक कि वित्त निगम ने भी इन न सुधरनेवाले संकटों की अनदेखी की, क्योंकि जान-बूझकर गलती करनेवाली इन कंपनियों को इन्होंने ही कर्ज दिया था।

आश्चर्य कभी समाप्त नहीं होते। वित्त निगम में परिवर्तन आना शुरू हो गया, क्योंकि इसके अधिकारियों ने बकाएदारों का पीछा करना शुरू कर दिया था। उन पत्रकारों को भी नोटिस जारी हुए। यह उनके साथ एक धृष्टता थी, क्योंकि अभी तक किसी ने भी उनसे सवाल पूछने की हिम्मत नहीं दिखाई थी। उनके पास तो सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करने का वैसा ही अधिकार था, जैसा कि नेताओं और चुनिंदा नौकरशाहों के पास होता है। मेरे ऊपर बहुत ही दबाव था। हालाँकि मैं निगम के पुनर्निर्माण के लिए उसकी ईंट-पर-ईंट जोड़ने में व्यस्त था। मैं उस समय किसी तरह की शिथिलता या ढिलाई की मानसिकता में नहीं था। हमारे प्रयास फलदायी हो रहे थे और संस्था में बेहतरी की संभावना थी। विचित्रता यह भी थी कि एक अखबार, जिससे एक पत्रकार संबंधित था, ने निगम के सुधार से प्रभावित होकर उसकी प्रगति की प्रशंसा में लेख भी प्रकाशित किया था। इसके अनुसार, “यह नेतृत्व, पेशेवर नजरिए, कल्पना-दृष्टि और रणनीति की अद्भुत कहानी थी।” वैसे यह उन पत्रकारों, वरिष्ठ नौकरशाहों या आला राजनेताओं के लिए मायने नहीं रखता था, चाहे निगम में परिवर्तन हो या न हो। उनके लिए तो यह हकीकत मायने रखती थी कि उन पत्रकारों पर उचित कार्रवाई हो रही थी। यह उचित काम उन चुनिंदा नौकरशाहों और राजनेताओं के लिए अनुचित था, क्योंकि उनकी सही व गलत की परिभाषा उनके अपने अनुसार थी। जब मैंने उनका हुक्म मानने से मना कर दिया, तब मुझे मेरे पद से हटा दिया गया और मेरे स्थान पर गलत को सही माननेवाला आज्ञाकारी नौकरशाह लाया गया। परिणामतः रसूखदार पत्रकारों को अब किसी तरह का नोटिस जारी नहीं किया गया था। वास्तविकता यह थी कि बोर्ड की मीटिंग में एक नया प्रस्ताव पेश किया गया, जिसके अनुसार—राज्य वित्त निगम के द्वारा शेयर के माध्यम से सहायता के रूप में दी गई धनराशि बट्टे खाते में डाल दी जाए। यह दूसरी गलती थी, जो कि पहली वाली से भी बड़ी थी।

जिस समय ये पत्रकार अपने मामले का निपटारा करने का प्रयास कर रहे थे, उस समय कुछ नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों को अखबारों में ‘समर्थित’ लेखन का लाभ मिल रहा था। एक बार जब निपटारा हो रहा था, तब काफी हो-हल्ला भी मचा। प्रमुख दैनिक ने अपनी सुखियों में लिखा था कि मुख्यमंत्री ने करोड़ों की संपत्ति इकट्ठा की थी। इस निपटारे में लाभ प्राप्त करनेवाले पत्रकारों में एक ने रिपोर्ट भी दाखिल की थी। वित्त निगम के अधिकारियों के लिए यह ठीक ही हुआ, क्योंकि उन्होंने अपनी शक्तियों का अविवेकपूर्ण ढंग से इस्तेमाल किया था। पत्रकारों के लिए अपनी विश्वसनीयता को पुनर्जीवित करने की कोशिश थी, पर उच्च स्तरीय राजनीतिज्ञों के लिए तो यह धर्म-विरोधी, यानी ‘विश्वासघात’ था। इसके बाद इस मामले की दुबारा सुनवाई और पत्रकार को दंडित करने के प्रयास किए गए।

चमगादड़ों और चूहों के साथ यात्रा

तबादले की आशंका तो थी ही, पर मुझे इसकी चाहत भी थी। इसकी वजह यह थी कि मैंने मुख्यमंत्री कार्यालय से मिले मौखिक निर्देशों को मानने से मना कर दिया था, जिसमें मेरे अधीनस्थ अधिकारियों को निलंबित करना था। वे अधिकारियों को बलि का बकरा बनाकर सुखियों में आना चाहते थे। मैंने इस पहली का हिस्सा बनने से मना कर दिया और तबादले का अनुरोध किया। इस तरह से जब आदेश आया, तब मुझे किसी तरह का आश्चर्य नहीं हुआ।

हालाँकि जब मैं राजस्व विभाग के न्यायिक सदस्य का पद-भार सँभालने इलाहाबाद पहुँचा, तब वहाँ मुझे बहुत से आश्चर्य हुए। सबसे पहला आश्चर्य तो तब हुआ, जब मैं रेलवे स्टेशन से राजस्व बोर्ड के कार्यालय जिस कार से ले जाया जा रहा था, उसमें हॉर्न छोड़कर सभी कुछ बज रहा था। कार का ड्राइवर रह-रहकर अपनी सीट से ओझल हो जाता था, मगर गाड़ी चलती ही रहती थी। मैं अपनी जिज्ञासा न रोक सका और जब अगली बार वह सीट से नीचे झुका, तब मैंने भी आगे उचककर उसे झाँका। तब पता चला कि कार का गेयर थोड़ा टूटा हुआ था और वह गेयर बदलने के लिए नीचे झुकता था। अब यह स्पष्ट हो चुका था कि राजस्व विभाग के सदस्य की नियुक्ति क्यों दंड-स्वरूप की जाती थी!

बोर्ड ऑफिस की हालत काफी खराब थी। शेष दुनिया के लिए आज का समय इक्कीसवीं सदी का था, पर बोर्ड अभी भी उन्नीसवीं सदी से बाहर निकलने के लिए संघर्ष कर रहा था। उसका भवन वाकई भव्य था और ब्रिटिश राज की पुरानी भव्यता का प्रदर्शन करता था। किंतु उस समय उसके प्रथम तल पर मानवों से ज्यादा चमगादड़ों का कब्जा था और इसकी छत का कुछ हिस्सा चमगादड़ों के द्वारा रंगीन बनाया जा चुका था। उनके द्वारा मचाया गया शोर उन हस्त-चलित टाइपराइटर्स की आवाज से प्रतिस्पर्धा करता था, जो कि आजकल अधिकतर सरकारी कार्यालयों से गायब हो चुके हैं।

बोर्ड के प्रभारी का कमरा काफी बड़ा था और शायद केवल वही वहाँ का आकर्षक हिस्सा था, क्योंकि बाकी सबकुछ बिल्कुल ही दयनीय स्थिति में था। वहाँ बिछे कालीन का काफी हिस्सा चूहे खा चुके थे। कमरे के कोने में रखी एक छोटी मेज और कुछ जर्जर कुर्सियों के साथ एक जीर्ण-शीर्ण सोफा भी था, जिसका कवर बुरी तरह से फट चुका था। कमरे के चारों तरफ बिजली के तार थे, पर मेज पर रखा लैंप जलता नहीं था। (शायद इसके लिए यह नहीं तय हो पा रहा था कि इसमें किस तार में करंट होगा।)

बोर्ड के सदस्यों का काम निचली अदालतों के राजस्व से संबंधित आदेशों के खिलाफ हुई अपील और पुनः संशोधन की सुनवाई करना था। हालाँकि यह स्पष्ट था कि इन मुकदमों के निस्तारण में मुक्किल के अलावा किसी की भी रुचि नहीं थी। कुछ प्रशंसनीय अपवादों को छोड़कर अधिकतर वरिष्ठ अधिकारी बेहतर नियुक्ति के इंतजार में ही रहते थे। यहाँ तक कि बार की भी रुचि सिर्फ तारीख देने में ही थी। चूँकि वहाँ के मुख्य अधिकारी तटस्थ भाव रखते थे, इसलिए कर्मचारियों में भी किसी तरह का प्रयास करने में हताशा का ही भाव था। परिणामतः बोर्ड निष्क्रियता और उदासीनता की प्रतिमूर्ति बन चुका था। चमगादड़ और चूहे वहाँ बसेरा बना चुके थे और मुकदमों की फाइलें धूल खा रही थीं। वहाँ का संपूर्ण वातावरण काफी निराशाजनक था और मेरे लिए यह मेरे पेशे की सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण स्थिति में से एक थी।

कहाँ से शुरू करूँ, मुझे समझ में नहीं आ रहा था। मेरा उन अन्य सदस्यों पर किसी तरह का औपचारिक नियंत्रण भी नहीं था, जो कि इस अवस्था के कुछ हिस्सेदार भी थे। उनमें अधिकतर अधिकारियों की उम्र भी हो चुकी थी और अब उनमें किसी तरह के बदलाव की उम्मीद भी नहीं थी। मेरा निजी सचिव, जो कि शीघ्र ही सेवानिवृत्त होने वाला था, पर उसने कंप्यूटर नहीं देखा था। जब मैंने उससे नए कंप्यूटर पर टाइप करने के लिए कहा था, तब उसका आशंका और सदमेवाले चेहरे का भाव सदा मेरी स्मृति में रहेगा। वैसे, यह एक अलग ही कहानी है कि उसने शीघ्र ही कंप्यूटर चलाना सीख लिया था और उसे इसका गर्व भी था। उसने ऑफिस में दूसरों के सामने एक मिसाल कायम की थी और यह सब सिर्फ चार महीनों में ही हुआ था।

सूचना तकनीक के उपकरणों से परिचित होने की वजह से मैंने अपने पुराने कार्यों की बहुत सी समस्याओं को हल किया था। मैं यह भी जानता था कि उनका इस्तेमाल आसान था। मेरा प्राथमिक लक्ष्य कर्मचारियों को इसके लिए प्रेरित करना था। दूसरी तरफ, इस तरह की परिस्थितियों में अधिकारी आलसी, अयोग्य, उदासीन और जहाँ तक

हो सकता था, बेईमान भी थे। वे किसी भी तरह के परिवर्तन का प्रतिरोध करते थे। शुरुआत से ही उद्देश्य बहुत ही स्पष्ट था और मुझे विश्वास था कि न्याय में देरी न्याय को नकारना है। अतः प्राथमिक उद्देश्य मुकदमों के निपटारे में तेजी और निस्तारण-प्रक्रिया में पारदर्शिता लाना था। इसी संदर्भ में तैयारी के लिए नेशनल इन्फॉर्मेटिक्स सेंटर के स्थानीय प्रतिनिधियों से भी आवश्यक हार्डवेयर और सॉफ्टवेयर लाने की बात हुई। इस संस्था के साथ पूर्व संबंधों की वजह से यह काम आसान हो गया और वे इसमें सहयोग करने के इच्छुक भी थे। इसका प्रस्ताव तैयार किया गया और स्वीकृति के लिए मुख्यालय भेजा गया। अध्यक्ष महोदय ने बिना किसी शर्त के ही सहयोग दिया और इसका बहुत असर हुआ। इसी बीच कचहरी की कार्य-प्रणाली के लिए सॉफ्टवेयर भी बन चुका था।

अब सबसे कठिन कार्य की शुरुआत हो चुकी थी। अधिकारियों के छोटे-छोटे समूहों के साथ स्थिति को सुधारने और सूचना प्रौद्योगिकी के उपकरणों की उपयोगिता पर कई सत्रों में वार्ता हुई। क्रमशः इसके लिए आंतरिक मार्ग भी बने। व्यक्तिगत प्रभावों एवं अध्यक्ष महोदय की मदद से जिले से कंप्यूटर उधार लिये गए और फिर उन्हीं से उन्हें अभ्यस्त भी बनाया गया। स्वीकृत कंप्यूटर काफी बाद में लगे। कार्यालयी और व्यक्तिगत एवं कार्यालय की समस्याओं पर ध्यान दिया गया। निर्णय लेने की प्रक्रिया में परामर्श द्वारा सहयोग को प्रोत्साहित किया गया। जिन अधिकारियों ने बेहतर कार्य किया, उन्हें सार्वजनिक प्रोत्साहन और पहचान मिली। धीरे-धीरे संस्था में परिवर्तन को स्वीकार्यता भी मिलनी शुरू हो गई। इनमें से कुछ को तो अपने काम पर गर्व भी था; जैसे—समय पर आना और अपनी टेबल साफ-सुथरी रखना। क्रमशः यह रोग फैल गया और शुरुआती प्रतिबंध के बाद तो क्लर्कों के बीच अपने रिकॉर्ड को कंप्यूटर में सहेजने की स्वस्थ प्रतिस्पर्धा भी शुरू हो गई थी। इससे नियत समय पर कार्य-सूची भी स्वतः ही तैयार हो जाती थी। अब वेबसाइट पर सभी जानकारीयों सभी के लिए उपलब्ध थीं तथा इससे प्रभारी अधिकारियों को भी मुकदमों के निस्तारण की स्थिति की निगरानी में सहूलियत थी।

संस्था की अपारदर्शिता और अकुशलता के भूत को हटाने के साथ-साथ वहाँ का फटा-पुराना कालीन भी बदला जा चुका था तथा रिकॉर्ड रूम में सभी फाइलें व्यवस्थित थीं। वहाँ के चमगादड़ गायब हो चुके थे और चूहों को भी हटाने की योजना चल रही थी। मुकदमों के निस्तारण में अप्रत्याशित रूप से तेजी आई थी। परिणाम सामने था; पर बड़ी चुनौती उन चमगादड़ों को दुबारा वहाँ घुसने से रोकने की भी थी। कुछ वर्षों बाद चमगादड़ों की स्थिति के बारे में जानकारी माँगने पर मुझे बताया गया था कि कुछ अज्ञात कारणों की वजह से चमगादड़ों ने वहाँ न लौटने का निर्णय लिया था।

6 दिसंबर, 1992 : एक विध्वंस

बाबरी ढाँचा दो समुदायों के बीच दशकों से विवाद की वजह बना हुआ था। इसकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी से शुरू हुई थी, जबकि इसका निर्माण सन् 1520-29 व मुगल शासक बाबर के आदेश से मीर बाकी ने कराया था। वह ढाँचा जिस पहाड़ी पर बना था, उसे 'रामकोट' के नाम से जाना जाता है। बहुत से हिंदुओं को विश्वास है कि मीर बाकी ने उस स्थान पर पहले से बने भगवान् राम के मंदिर को नष्ट कर दिया था। उन्हें यह भी विश्वास है कि भगवान् राम का जन्म यहीं हुआ था। उनका यह विश्वास महाराजा सवाई जय सिंह के दस्तावेजों से उत्पन्न हुआ। महाराज सवाई जय सिंह मुगल दरबार के प्रभावशाली राजपूत राजा थे। जयपुर के सिटी पैलेस संग्रहालय में कपाड़ द्वार संग्रह में बाबरी ढाँचे का रेखाचित्र नक्शा है। नक्शे के अनुसार, इसमें एक खुला प्रांगण है और इसका ढाँचा तीन गुंबदों वाली बाबरी मसजिद को दर्शाता है। इस प्रांगण को जन्म-स्थान बताया गया था, जिसे 'राम चबूतरा' कहा गया। सन् 1853 में हिंदू संतों के एक समूह ने इस स्थान पर कब्जा कर लिया और इस ढाँचे पर अपने स्वामित्व का दावा किया। सन् 1855 में हुए हिंदू-मुसलिम दंगों के बाद भविष्य में होनेवाले झगड़ों से बचाव के लिए यहाँ एक चहारदीवारी का निर्माण करा दिया गया था और बाद में मुसलमान इस प्रांगण के भीतर नमाज पढ़ते थे तथा हिंदू इस चबूतरे पर अपनी पूजा करते थे।

इस विवाद को कानूनी जामे की जरूरत तब पड़ी, जब सन् 1877 में इस ढाँचे के संरक्षक सईद मुहम्मद असगर ने फैजाबाद के कमिश्नर के पास एक याचिका दाखिल की, जिसके अनुसार उन हिंदुओं पर रोक लगाने का अनुरोध था, जिन्होंने वहाँ भगवान् राम की जन्मभूमि बताकर चबूतरा बना लिया था।

दिसंबर 1949 में अखिल भारतीय रामायण महासभा ने मसजिद के बाहर नौ दिनों तक 'रामचरितमानस' का पाठ कराया। 23 दिसंबर की सुबह उस आयोजन के आयोजनकर्ताओं ने घोषणा करते हुए बताया कि वहाँ चमत्कारिक रूप से भगवान् राम व सीता की मूर्ति प्रकट हुई और साथ ही हिंदुओं के दर्शन के लिए प्रेरित भी किया। इस मुद्दे की गंभीरता को समझते हुए तत्कालीन सरकार ने मसजिद को विवादग्रस्त क्षेत्र घोषित करते हुए वहाँ फाटक पर ताला लगवा दिया था। उस फाटक का ताला दशकों बाद सन् 1986 में तब खुला, जब हिंदुओं को उस स्थल पर जाने दिया जाने लगा था।

अगले ही साल उस स्थल पर राम मंदिर निर्माण के लिए एक बड़ा अभियान भी चलाया गया। इन्हीं परिस्थितियों में कल्याण सिंह के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी उत्तर प्रदेश में सत्ता में आई और मेरी नियुक्ति सूचना एवं जनसंपर्क निदेशक के पद पर हुई।

कल्याण सिंह ने पूरे उत्साह के साथ अपना कार्यकाल शुरू किया और पद सँभालने के तुरंत बाद ही ईमानदार व उद्देश्यपूर्ण प्रशासन देने का अपना इरादा भी स्पष्ट कर दिया था। जिले में ईमानदार जिलाधिकारियों और सचिवों की सूची महत्त्वपूर्ण पदों पर भेजने के लिए मैंगई गई। बहुत सी सामाजिक बुराइयाँ, जैसे स्कूलों की परीक्षाओं में सामूहिक नकल पर रोक लगाई गई। बहुत से मुद्दों को अंतिम रूप देने से पहले नीतियों पर कैबिनेट बैठकों में घंटों चर्चा हुई। राम मंदिर निर्माण का मुद्दा, जिसकी सहायता से भाजपा सत्ता में आई, हमेशा से चर्चा का उत्तेजना वाला विषय था; पर कल्याण सिंह ने उत्तर प्रदेश को 'उत्तम प्रदेश' बनाने पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया था। उन्होंने अपने मंत्रालय में बेहतरीन अधिकारियों जैसे संजय अग्रवाल और अनंत कुमार सिंह को रखा था, जो कि बाद में भारत सरकार के सचिव भी बने। उन्होंने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए किसी तरह की कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। उनके कार्य सुधार के क्षेत्र में सेवाओं को प्रदान करने और योग्य अधिकारियों की नियुक्ति के रूप में नजर आती थी। उन अधिकारियों के कार्यकाल की सुरक्षा और नीतियों को लागू करने में आवश्यक सहायता प्रदान की गई थी, क्योंकि राज्य की 'तबादला उद्योग' की कुख्यात स्थिति से सभी परिचित थे। नौकरशाही अपना काम कर रही थी। हालाँकि 6 दिसंबर, 1992 को जो भी हुआ, उसने सबकुछ बदल दिया था।

आज रविवार था और छुट्टी वाला दिन था। हालाँकि देश भर से हजारों कारसेवक अयोध्या (राम की जन्मभूमि) में इकट्ठा हो रहे थे। अयोध्या में रविवार की इस ठंडी सुबह काफी तनाव था। ठीक इसी तरह का आयोजन जुलाई के महीने में भी हुआ था, पर वह शांतिपूर्ण ढंग से संपन्न हुआ था। इसी की उम्मीद कल्याण सिंह से फिर से की गई थी। विचित्रता यह थी कि उनके स्वयं के प्रयासों ने ही राज्य में उम्मीद जगाई थी और वही निराशा में तब्दील हुई।

सूचना एवं जनसंपर्क निदेशक की हैसियत से मेरा कर्तव्य उन्हें प्रत्येक सुबह मीडिया की सूचना से अवगत कराना

था। आज के दिन इस इलाके में अजीब सा सन्नाटा छाया हुआ था। परिणामतः मैं उनके निवास 4-ए, कालिदास मार्ग पर आम दिनों की अपेक्षा थोड़ा जल्दी पहुँच गया था। कल्याण सिंह, जो कि बहुत ही शांत और आत्मविश्वास से भरे रहते थे, अब परेशान नजर आ रहे थे। वे अपने अतिथि कक्ष में अकेले ही बैठे थे। मैंने जिस समय कमरे में प्रवेश किया, वे किसी से फोन पर बात कर रहे थे। अयोध्या में बिना किसी दुर्घटना के ही संपन्न पिछली सभा के बावजूद इस तरह के सम्मेलन के लिए उनका विरोध किया गया था। उनका ध्यान राज्य में व्यवस्था बनाए रखने पर ही केंद्रित था और उन्हें उनके प्रयासों के लिए जाना भी जाता था। अपने शासन के एक साल के भीतर ही उन्होंने इसके प्रमाण भी दे दिए थे।

यहाँ तक कि उनके आलोचक भी मुद्दों को सुलझाने के लिए उनके ईमानदार और गैर-बेवकूफाना रवैए की प्रशंसा करते थे। वे वाकई अयोध्या में भव्य मंदिर चाहते थे और इसके लिए शांतिपूर्ण सर्वसम्मति के लिए काम भी कर रहे थे। वे पूरी तरह से आक्रामकता के खिलाफ थे, जो कि दक्षिणपंथी धार्मिक संगठनों की प्रमाणचिह्न थीं।

उन दिनों तक कम-से-कम भारत में तो मोबाइल फोन नहीं आया था। यहाँ तक कि दूरदर्शन के अलावा और कोई चैनल भी नहीं था। टेलीप्रिंटर और लैंडलाइन फोन ही संचार के प्रमुख साधन थे। 'लाइव' टेलीकास्ट के अभाव में जमीनी हकीकत का अंदाज लगाना मुश्किल था। कल्याण सिंह को अयोध्या की वास्तविक खबरें रुक-रुककर मिल रही थीं। लाल कृष्ण आडवाणी, जो उन दिनों अयोध्या में ही थे, उनसे भी कल्याण सिंह की बात हुई थी। सब कुछ नियंत्रण में लग रहा था कि तभी खबर आई कि कुछ कारसेवकों ने घेरा तोड़ दिया था और वे पुराने ढाँचे के गुंबदों पर चढ़ गए थे। ढाँचा ढह गया और कल्याण सिंह हताश हो गए। बाबरी ढाँचे के साथ उत्तर प्रदेश के पुनर्निर्माण का उनका सपना भी चकनाचूर हो गया। बाद में उनकी राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री भैरो सिंह शेखावत के साथ वार्ता से पार्टी के नेतृत्व के खिलाफ उनकी चिंता भी नजर आई। उन्होंने बार-बार कहा कि वे इस तरह के सम्मेलन के खिलाफ थे, पर उनके विरोध की अनदेखी की गई और किसी ने भी उन्हें नहीं सुना। आखिरकार, अपना अंतिम वक्तव्य देते हुए जो कुछ भी हुआ, उसकी जिम्मेदारी लेते हुए उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने मुझसे एक कागज माँगा और राज्यपाल को एक संक्षिप्त त्यागपत्र लिख दिया। हालाँकि बाद में मुझे पता चला कि औपचारिक टाइप किया हुआ इस्तीफा भी भेज दिया गया था। उस पत्र में उन्होंने बिना किसी स्पष्टीकरण के ही जो कुछ भी हुआ, उसकी जिम्मेदारी स्वीकार की। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा था कि इसके लिए और कोई भी जिम्मेदार नहीं था। वैसे, अब यह यकीन करना कठिन है कि ऐसे भी राजनेता रहे हैं, जिनमें जिम्मेदारी लेने का साहस था। अपना इस्तीफा देने में उन्होंने किसी भी तरह की देरी नहीं की थी। तभी मुख्य गृह सचिव का भी कक्ष में प्रवेश हुआ था। जैसे ही मैंने उन्हें मुख्यमंत्री की तरफ मुखातिब किया, वे मेरे कान में फुसफुसाते हुए बोले, “मरवा दिया।” राज्य के पुनरुत्थान के लिए किए जानेवाले प्रयास के संदर्भ में यह कितना सच था! सबकुछ खत्म हो गया और उत्तर प्रदेश इस विध्वंस के बाद फिर नहीं उबरा।

निर्धन से निर्धनतम की सेवा

स्वास्थ्य बीमा

भारत में स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु कई तरह के वित्तीय स्रोत हैं, जैसे—वैयक्तिक भुगतान, केंद्रीय व राज्य सरकार राजस्व, निजी कंपनियों के लाभ और बाहरी सहायता आदि। वर्ष 2004-05 के राष्ट्रीय स्वास्थ्य लेखा विभाग के आँकड़ों के अनुसार—केंद्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों ने मिलकर भारत के कुल स्वास्थ्य व्यय के 20 प्रतिशत की जिम्मेदारी ही ली थी, यानी स्वास्थ्य पर हुए खर्च का 78 प्रतिशत बिना सहयोग और निजी खर्च के माध्यम से ही हुआ था, जो कि दुनिया में सर्वाधिक है। स्वास्थ्य क्षेत्र में बाहरी सहायता कुल खर्च का केवल 2 प्रतिशत ही है।

भारत सरकार स्वास्थ्य सुरक्षा में होनेवाली असमानता और उसके वित्तीय ढाँचे को समझती है और उस पर विजय पाने के लिए उसने विभिन्न मानक भी प्रस्तुत किए हैं। इन मानकों में से एक स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु इसके बजट आवंटन में बढ़ोतरी है। सरकार का लक्ष्य इसमें होनेवाले खर्च को जी.डी.पी. के 1.1 प्रतिशत से बढ़ाकर उसे 3 प्रतिशत तक पहुँचाना था। हालाँकि स्वास्थ्य सुरक्षा मद में सिर्फ बजटीय बढ़ोतरी ही इसका समाधान नहीं था। इन वित्तीय सहायता के इस्तेमाल से अलग सार्वजनिक स्वास्थ्य सुरक्षा के मामले में बहुत सी बाधाएँ थीं।

भारत में निरंतर रूप से आनेवाली सरकारों ने पिछले कई वर्षों में समाज के इस असुरक्षित क्षेत्र में वित्तीय सहायता प्रदान करने में बहुत से तंत्रों को प्रस्तुत किया, जैसे—वर्ष 2003 में केंद्रीय सरकार यूनिवर्सल हेल्थ इश्योरेंस स्कीम लाई और ठीक इसी तरह की स्वास्थ्य बीमा योजनाएँ पंजाब, केरल एवं असम आदि राज्यों में भी आईं। हालाँकि केंद्रीय और राज्य सरकार की अधिकतर योजनाएँ नीतियों की कमी, राज्य स्तर पर जवाबदेही के अभाव, लागू करने में निरंतर प्रयासों की कमी, कमजोर आकलन और निगरानी तथा बहुत सी जोखिम उठानेवाली कंपनियों की अस्पष्ट भूमिका तथा जिम्मेदारियों एवं लाभार्थियों की गैर-जानकारी के कारण असफल रहीं।

गरीबी रेखा के नीचे रहनेवाले लोगों के लिए बीमारी उनकी धन कमाने की क्षमता पर ही स्थायी संकट नहीं है, बल्कि बहुत से मामलों में यह उनके परिवार को कर्ज की गिरफ्त में भी डाल देती है। उन्हें जब इलाज की जरूरत होती है, तब वे अक्सर धन की कमी और मजदूरी के नुकसान की वजह से इसकी अनदेखी करते हैं और तब तक काफी देर हो चुकी होती है; और यदि उन्होंने आवश्यक स्वास्थ्य सुरक्षा पर खर्च करने का तय किया, तब उन्हें अपनी बचत खर्च करने या संपत्ति बेचने अथवा फिर बच्चों की पढ़ाई का खर्च रोकना पड़ता है। परिणामतः वे एक बड़े कर्ज की गिरफ्त में आ जाते हैं।

इन स्थितियों को ध्यान में रखते हुए केंद्रीय सरकार ने समाज के कमजोर वर्गों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य बीमा लाने की योजना महसूस की। बहुत बड़ी सरकारी और गैर-सरकारी भारतीय स्वास्थ्य बीमा कंपनियों के अनुभवों के बाद एक नई स्वास्थ्य बीमा योजना लागू करने का निश्चय किया गया, जिसे राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर.एस.बी.वाई.) के नाम से जाना गया। इस योजना का पहला लक्ष्य गरीबी रेखा के नीचे रहनेवाले लोग ही थे। बाद में इस योजना में बहुत से गैर-सरकारी कर्मचारी, जैसे—निर्माण मजदूर, घरेलू नौकर, फेरीवाले भी शामिल किए गए।

इसकी शुरुआत कैसे हुई

मेरे एक सहकर्मी ने आश्चर्य भरी भंगिमा के साथ पूछा, “क्या तुम श्रम मंत्रालय में हो?” वह यह जानने को इच्छुक था कि उत्तर प्रदेश जैसे असहज राज्य के बाद मेरी नियुक्ति किस निष्क्रिय स्थान पर हुई थी।

मेरे लिए भी यह आश्चर्य ही था और सबसे अधिक आश्चर्य तो तब हुआ, जब मैं जैसलमेर हाउस में श्रम कल्याण विभाग के प्रमुख निदेशक के कार्यालय पहुँचा। वहाँ बिछे धूल भरे कालीन को देखकर मुझे लगा कि वह वहाँ क्यों था? फाइलों और कागजों के ढेर ने वहाँ के वातावरण के साथ एक अनुकूलता बना रखी थी। वहाँ का वातावरण किसी भी तरह के कार्य के लिए पूरी तरह अनुपयुक्त था और मुझे जल्दी ही जानकारी भी हो गई कि श्रम एवं नियुक्ति मंत्रालय में कुछ भी काम नहीं हुआ था। धीरे-धीरे मुझे यह भी स्पष्ट हो गया कि बहुत सी व्यर्थ और समय बरबाद करनेवाली बैठकों ने अकसर भ्रम उत्पन्न किया था। वहाँ किसी तरह के समाधान और समझौते का प्रयास नहीं था और हर जोखिम उठानेवाला वही कहता था, जो वह कहना चाहता था। वहाँ की बहस लंबी और वाक्य उलझे हुए तथा उग्र होते थे। वे स्थिति को बार-बार दोहराते ही रहते थे। कोई भी एक इंच झुकने के लिए तैयार नहीं था। परिणामतः कुछ भी हासिल नहीं हुआ। वहाँ के सभी सत्र निष्फल साबित होते थे और वहाँ सभी हारनेवाले ही थे। हालाँकि इन परंपराओं का अवलोकन धार्मिकतापूर्ण था, खासतौर से वार्षिक राष्ट्रीय सभाओं में। वैसे यह माँग बराबर होती थी कि इसे कुछ और दिन चलना चाहिए। चूँकि जून के महीने में भारत में बहुत गरमी होती है, इसलिए श्रम से संबंधित मुद्दों के समाधान के लिए हर साल जिनेवा में ही बैठक होती थी। चूँकि सभी भागीदार इस यात्रा से लाभान्वित होते थे, इसलिए इस पर कोई भी सवाल नहीं उठाता था। यहाँ तक कि सरकार द्वारा इसके खर्च में कमी की घोषणा के बावजूद इन महत्त्वपूर्ण यात्राओं पर असर नहीं पड़ता था और समस्याएँ जहाँ-की-तहाँ बनी रहती थीं। यह विभाग सही अर्थों में कुछ भी प्रदान करने में असफल था।

केंद्रीय ट्रेड यूनियन ने भी बहुत ही कम काम किया था और स्थिति बहुत ही निराशाजनक थी। उनका ध्यान सिर्फ छोटे स्तर के श्रमिक संगठनों तथा असंगठित कामगारों पर ही केंद्रित था और उनकी किसी भी तरह की सामाजिक सुरक्षा नहीं थी। इस तरह के 43 करोड़ असंगठित कामगार कमजोर स्थिति में थे और कभी-कभी इस विषय पर शोर भी मचता था। उन लोगों के लिए बहुत कुछ करने की माँग तो होती थी, पर बहुत ही कम काम नजर आता था। किसी के पास इन भव्य योजनाओं को लागू करने का तरीका नहीं था। सभी को लगता था कि यदि धन की व्यवस्था हो जाए, तब सारी समस्या का समाधान हो जाएगा। उन असंगठित क्षेत्रों के कामगारों के पास न तो उनकी पीड़ा दूर करने का तरीका था और न ही किसी तरह का प्रतिनिधित्व ही था। यह स्थिति लगभग पाँच दशकों से भी अधिक समय तक जारी रही। हालाँकि सरकार इस पर एक कदम उठाते हुए इस दिशा में स्वास्थ्य बीमा लाई।

तत्कालीन प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कामगारों की तकलीफ को समझा था। अपने उदारवादी रवैए के बावजूद उन्होंने ‘आम आदमी’ पर ध्यान दिया। उन्होंने समावेशी विकास के प्रति अपनी गंभीरता दिखाई थी। वे संभवतः इस वास्तविकता के प्रति सजग थे कि “सामाजिक कल्याण समाज के संपन्न वर्ग की असमानता और अनिश्चितता को कम करेगा तथा समाज के भीतर के विश्वास को भी सहारा देगा।” (कॉमनवेल्थ—जेफरी डी. सैश)

आम विश्वास के साथ वे शायद इस तथ्य से भी परिचित थे कि “यदि समाज निर्धनों की सहायता नहीं कर सकता है, तब वह उन कुछ संपन्नों को भी बचा नहीं सकेगा।” (जॉन एफ. केनेडी)

उनकी तीव्र इच्छा थी कि हमें असंगठित क्षेत्र के कामगारों को स्वास्थ्य बीमा के अंतर्गत लाना चाहिए। हालाँकि किसी के पास इसे लागू करने का तरीका नहीं था। सरकार द्वारा स्वास्थ्य बीमा के शुरुआती प्रयास, जिसमें यू.एच.एस.आई. को बहुत अधिक प्रचार भी मिला था, असफल सिद्ध हुई। यहाँ तक कि राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के अंतर्गत स्वास्थ्य बीमा को अपनानेवाले बहुत ही कम लोग थे। इस संदर्भ में दुनिया भर के अनुभवों से भी समाधान न हो सका। हालाँकि श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा योजना और बेहतर कार्य योजना के साथ योजनाएँ होनी चाहिए। चूँकि किसी ने भी इसकी जिम्मेदारी नहीं ली, इसलिए श्रम मंत्रालय से इस कार्य को करने के लिए कहा गया था।

आर.एस.बी.वाई. का बीजारोपण

हम देश के अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के दिल्ली कार्यालय में वार्षिक स्थिति पर चर्चा के लिए एकत्र हुए थे। फरवरी के महीने में मौसम सुहाना था। चर्चा का प्रवाह अन्य सरकारी बैठकों की ही तरह था। भाषणों का दौर यांत्रिक था और उनकी प्रस्तुति पूर्व निर्धारित होने के साथ उनकी रूपरेखा आम थी; परंतु विचित्रता यह थी कि यहाँ न तो पिछले वर्ष किए गए कार्यों पर चर्चा थी और न ही किसी योजना के पूरा होने पर ही चर्चा थी। कोई भी व्यक्ति किसी ठोस कार्य योजना पर होनेवाले कार्य में इच्छुक नहीं नजर आता था और बिना किसी निर्णय या नए विचारों के साथ यह चर्चा समाप्त होने वाली थी। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक प्रतिभाशाली अधिकारी की भारत में समाप्त हुए उनके पूर्ण कार्यकाल के विदाई समारोह के अलावा इस बैठक का कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ और वह अधिकारी भी अब देश से बाहर जाने वाली थीं।

जैसे ही यह बैठक समाप्त होने वाली थी कि तभी एक परामर्श आया कि भारत में निर्धनों के लिए स्वास्थ्य बीमा को लागू करने के लिए एक कार्यबल का गठन होना चाहिए। इस कार्यबल में विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन और उससे संबंधित मंत्रालयों के विशेषज्ञ शामिल होंगे। यह परामर्श अचानक ही आया था और वहाँ उपस्थित लोगों में एक संशय भी देखा जा सकता था। हालाँकि इस मुद्दे पर संभवतः ध्यान इसलिए भी था, क्योंकि प्रधानमंत्री ने स्वयं ही स्वास्थ्य बीमा पर तुरंत ही ध्यान देने पर बल दिया था। किसी भी स्थिति में इस तरह का कार्यबल स्थापित करने में कोई परेशानी नहीं थी, यहाँ तक कि इस अति दूरदर्शी योजना की नींव रखने के बारे में भी हम बहुत ही कम जानते थे। इस योजना का नाम 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना' दिया गया।

यह विचार तो महान् था, पर इसे कैसे लागू किया जाए? “चाहे जितना भी अच्छा विचार हो, यह तब तक मायने नहीं रखता, जब तक कि अन्य लोग इसे समझ न लें, अपना न बना लें और इसे लागू करने में आपकी सहायता करें।” (एन.आर. नारायण मूर्ति, द राइटिंग ऑन द वाल)

और, यही सबसे बड़ी चुनौती थी।

त्रुटिपूर्ण आँकड़े

गरीबी रेखा के नीचे के आँकड़े या फिर उनका अभाव वाकई नाराज करनेवाला था। यह भी आश्चर्य था कि बहुत सी योजनाएँ, जो जिन आँकड़ों पर आधारित थीं, वे या तो अस्तित्व में ही नहीं थे या फिर अपूर्ण और अधूरे थे।

यहाँ दो तरह की स्थितियाँ थीं—पहली आँकड़ों से संबंधित और दूसरी तकनीक से संबंधित थी। कुछ राज्यों में आँकड़ों पर आधारित स्थिति और भी भयावह थी और इसमें सबसे बुरी स्थिति थी आँकड़ों का अपूर्ण या अधूरा होना। इसका अर्थ था कि नया सर्वे और इसमें बहुत ही अधिक समय लगता। बहुत से राज्यों में आँकड़े तो थे, पर उनका अंकीकरण नहीं हुआ था। इसका निहितार्थ था कि इन्हीं आँकड़ों को कंप्यूटर में रखना था और इसके लिए एक दल तैयार करना था। इसके बाद अगले चरण में आँकड़े गणितीय रूप में आ चुके थे, पर इच्छित रूपरेखा में नहीं थे। सभी राज्यों के पास इनके पुनः सुधार की तकनीकी क्षमता का अभाव था और इन्हीं क्षमताओं को विकसित करना था। इस कार्य में लगनेवाले समय और श्रम को देखते हुए बहुत से अधिकारियों ने इसे छोड़ दिया था। राज्यों ने इस तरह के विवरणों के लिए बी.पी.एल. डाटा नहीं माँगे, जबकि आर.एस.बी.वाई. के अंतर्गत इनकी आवश्यकता थी। आँकड़ों के आकार के मामले में बहुत से विषय थे, जैसे—जनगणना कूट, डाटा प्रस्तुतीकरण (अल्फा, संख्यांक या दो के युग्म में)। कोई चीज, जो इस काम की प्रगति को कम कर रही थी तो वह यही थी। आर.एस.बी.वाई. बी.पी.एल. डाटा पर भरोसा नहीं कर सकती थी। वैसे, यह मान लिया गया था कि राज्य सही थे; पर यह हमेशा सच नहीं था। एक गंभीर निर्णय भी लिया गया था कि आर.एस.बी.वाई. के अंतर्गत आँकड़ों का सत्यापन नहीं हो सकता था। इस स्थिति में स्मार्ट कार्ड के समय थोड़ी समस्या उत्पन्न हुई थी; परंतु आर.एस.बी.वाई. के एक हिस्से का सत्यापन संभव नहीं था। हालाँकि विश्व बैंक के द्वारा तैयार किए गए सॉफ्टवेयर के द्वारा इसकी अभिपुष्टि की गई थी। साथ ही जो लोग सूची से छूट गए थे, उनका लिखित प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का प्रयास किया गया था। बीमा कंपनी को किसी तरह के सुधार करने की अनुमति नहीं थी। उनका जनादेश कार्ड्स पर निर्भर था, जो कि वेबसाइट के अभिपुष्टि आँकड़ों के द्वारा हासिल किए गए थे।

संकल्पनात्मक संरचना और मानकों का उदय

राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर यहाँ बहुत से विशेषज्ञ थे और लगता था कि वे स्वास्थ्य बीमा के बारे में सबकुछ जानते थे। किंतु भारत की विविधता, अन्यायपूर्ण आर्थिकता और जटिल समाज के कारण वे संभवतः ऐसा दावा नहीं कर सकते थे। नीतियों की रूपरेखा बनाने के लिए कार्यबल का गठन सिर्फ चालू बीमा योजनाओं का ही आकलन कर सकता था। भारतीय संदर्भ में राष्ट्रीय स्तर पर यह आकलन व्यावहारिक स्वास्थ्य बीमा योजना की संकल्पना प्रदान कर पाने में असफल सिद्ध हुआ।

सौभाग्यवश, शुरुआती स्तर पर स्वास्थ्य संबंधी बीमा प्रणाली की कार्यक्षमता पर किसी ने भी प्रश्न नहीं उठाए। संभवतः किसी ने भी आर.एस.बी.वाई. को गंभीरता से नहीं लिया था। हालाँकि जब एक बार योजना लागू हो गई, तब काफी शोरगुल मचा था। आर.एस.बी.वाई. द्वारा अपनाई गई 'माँग की ओर' को आपूर्ति प्रदान करनेवाले प्रस्तावकों ने दोष देना शुरू कर दिया था।

बीमे से संबंधित बहुत से मौलिक और संवेदनशील सभी तरह के बहुत से अनुत्तरित प्रश्न थे। क्या पूरे देश के लिए एक ही तरह का ढाँचा होना चाहिए या फिर देश की विभिन्नता को देखते हुए राज्यों को अपना स्वयं का ढाँचा बनाने की अनुमति होनी चाहिए? राज्यों को अपना अलग ढाँचा बनाने की अनुमति देने के बाद इनके बीच सूचनाओं के आदान-प्रदान की स्थिति कैसे बनेगी? लाभार्थियों की प्रवासी प्रवृत्ति को देखते हुए इनके बीच लाभ की संभावना और सूचनाओं के आदान-प्रदान से समझौता नहीं किया जा सकता था। साथ ही बीमा की समय सीमा का भी निर्धारण होना था। क्या इसकी अवधि एक साल के लिए हो या फिर वित्तीय वर्ष की समाप्ति तक हो? क्या इसे निश्चित समय सीमा तक होना चाहिए? और यदि हाँ, तब इसकी समय सीमा क्या होनी चाहिए? क्या प्रत्येक जिले की प्रथम समय-सीमा हो या फिर राज्यों को एक अलग इकाई मान लें?

बहिरंग रोगियों (ओ.पी.डी.) को लेकर भी एक लंबी बहस हो चुकी थी। इस विषय पर नीति नहीं बन सकी, क्योंकि इसके पक्ष और विपक्ष दोनों के प्रति कठोर भावनाएँ थीं। अंततोगत्वा नैतिक हानि की क्षमता ने इस मुद्दे को शुरुआत में बहिरंग रोगियों (ओ.पी.डी.) के खिलाफ ही रखा। पहले से मौजूद रोगों को न शामिल करने पर बहस हुई। पूर्व विद्यमान बीमारियों को शामिल न करना व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था। वित्त मंत्रालय के आदेशानुसार, मातृत्व लाभ को शुरुआत में इससे अलग रखा गया था। यह भी विचित्रता थी कि वित्त मंत्रालय ने स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों में रुचि दिखाई थी। हम छोटी धनराशि बचाकर बड़ी धनराशि गँवाने के पक्ष में नहीं थे। अंततः समझदारी की विजय हुई और मातृत्व लाभ को भी इसमें शामिल करने की अनुमति मिली।

लाभार्थियों की कमजोर स्थिति को ध्यान में रखते हुए उनके द्वारा किया गया सहयोग भी बहस का एक मुद्दा था। सबसे आश्चर्यजनक स्थिति तो यह थी कि इस विषय में नौकरशाही में भी विरोध था। किंतु अंत में स्वामित्व के मुद्दे की ही विजय हुई। तब यह हुआ कि जब पंजीयन के रूप में वार्षिक शुल्क लिया जाएगा, तब लाभार्थियों को प्राप्त होनेवाले लाभ को महत्त्व दिया जाएगा। इससे बाद में योजनाओं के आकलन में आसानी भी होगी। योजना से यह सिद्ध हो रहा था कि 'उत्पाद' अच्छा था और गरीब व्यक्ति भी इसके लिए भुगतान करने के लिए तैयार था।

अगला सवाल परिवार की परिभाषा को लेकर था कि उसमें कितने सदस्यों को इसका लाभ मिलेगा? इस परिभाषा को माता-पिता के शामिल होने की वजह से बदलना पड़ा था। हालाँकि लाभार्थी सदस्यों की संख्या 5 तक ही सीमित थी। साले एवं सालियों या इसी तरह के अन्य संबंधियों को इसके लाभ की श्रेणी से बाहर रखा गया था। वैसे परिवार के पाँच सदस्यों की सीमा के निर्णय पर टिके रहना कठिन था, क्योंकि बहुत से क्षेत्रों में परिवारों का आकार बढ़ा होता है। यदि परिवार के सदस्य पाँच से अधिक हैं, तब सदस्यों को अलग करने का निर्णय किस तरह से तय होगा।

अब इसमें एक सिद्धांतवादी बहस थी। क्या सार्वजनिक और निजी बीमा कंपनियों को प्रतिस्पर्धा की अनुमति मिलनी चाहिए? सर्वव्यापी स्वास्थ्य बीमा योजना सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कंपनियों के लिए प्रतिबंधित थी। यह प्रतिबंध ही इस योजना की असफलता की एक वजह भी था। इसलिए आर.एस.बी.वाई. के अंतर्गत सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की बीमा कंपनियों को प्रतिस्पर्धा की अनुमति दी गई थी। इस प्रकार, लाभार्थी सार्वजनिक और निजी किसी भी अस्पताल के नेटवर्क का लाभ प्राप्त कर सकता था। बीमा कंपनियों की भूमिका अब एक विवाद का विषय भी थी। क्या प्रत्येक राज्य के लिए एक बीमा कंपनी होनी चाहिए या फिर जिले को एक इकाई के रूप में

लेना चाहिए? क्या प्रत्येक जिले में कई बीमा कंपनियों के संचालन की अनुमति मिलनी चाहिए, ताकि लाभार्थी के पास विकल्प हों? क्या ऐसा करना व्यावहारिक होगा? अस्पतालों के व्यापारिक हितों को ध्यान में रखते हुए बीमा के दावों का भुगतान ईमानदारी से होना चाहिए।

अब सवाल उत्पन्न हुआ—चूँकि बीमा के दावों की संख्या बहुत थी, इसलिए क्या इसका निस्तारण इलेक्ट्रॉनिक तरीके से होना चाहिए? इन दावों के निस्तारण के लिए किन आँकड़ों की आवश्यकता थी?

क्या इन्हें आँकड़ों में होना चाहिए था? इस योजना में कागजों के इस्तेमाल न करने को ध्यान में रखते हुए दावों के निस्तारण के लिए इलेक्ट्रॉनिक विधि को ही तय किया गया था। इसके सॉफ्टवेयर, रख-रखाव और लागत के भी मुद्दे अभी मौजूद थे। बीमा कंपनियों को अस्पतालों में मूल प्रतिलिपि की अचानक जाँच करने की अनुमति दी गई थी।

संकल्पना के स्तर पर अस्पतालों को सूचीबद्ध करने का निर्णय लिया गया था। शुरुआत में इसके लिए लचीला रवैया अपनाया गया। अस्पतालों की खराब स्थिति और इनकी साफ-सफाई को लेकर उनकी सूचीबद्धता के संबंध में शिकायतें भी आई थीं। हालाँकि उनकी चिकित्सा संबंधी तथा ऑपरेशन की पद्धति से संबंधित सवालों की स्थिति और भी गंभीर थी। एक अन्य महत्वपूर्ण मुद्दा यह भी था कि देश भर में ऑपरेशन या अन्य चिकित्सा-पद्धति में समानता होनी चाहिए।

इस योजना की संकल्पनात्मक रूपरेखा इसके स्थायित्व की अनदेखी नहीं कर सकती थी। कोई भी योजना यदि कुछ समय तक नहीं चल सकती, तब इसका प्रयास व्यर्थ ही होगा। अधिकतर सरकारी योजनाएँ 'गहन निरीक्षण नमूने' की पद्धति ही अपनाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति का क्रमवार ढंग से निरीक्षण किया जाना है, जिसमें निचले स्तर पर निरीक्षणकर्ताओं की मौजूदगी का बोझ होता है। आर.एस.बी.वाई. ने इन सभी मुद्दों पर भिन्न प्रकार के चिंतन का इरादा किया था। शायद यह सामाजिक क्षेत्र की योजना में पहली बार व्यापारिक नमूने के इस्तेमाल की कोशिश की गई थी।

देश भर में सूचनाओं के आदान-प्रदान की सुनिश्चितता और उनकी पुनरावृत्ति से बचाव के लिए पद्धतियों व प्रक्रियाओं के मानक की जरूरत महसूस की गई थी और इसी रूप में उन्हें विकसित भी किया गया था। इसीलिए केंद्र और राज्यों के बीच चिकित्सा-पद्धतियों और उनकी लागत संबंधी अनुबंधों एवं निविदा के दस्तावेज तैयार किए गए थे। अतः बहुत से विवादास्पद मुद्दों को शामिल करना एक जटिल प्रक्रिया थी। कर्नाटक में एक स्वीकार्य अनुबंध और निविदा प्रस्तुत करने में विश्व बैंक पहले ही असफल हो चुका था। देश भर के अस्पतालों में चिकित्सा-पद्धतियों के लिए स्वीकृत दर तय करना वाकई एक चुनौती भरा कार्य था। एक बड़ी जनसंख्या के लिए स्वास्थ्य सेवाओं हेतु बड़े स्तर पर योजना में निर्धारित मूल्य बाजार के वर्तमान मूल्य से 30 से 40 प्रतिशत कम होना चाहिए। प्रस्तुत दर आवश्यक नहीं थी और राज्यों को भी उन्हें परिवर्तित करने की अनुमति थी। हालाँकि राज्यों के अंतर्गत इन दरों में समरूपता थी। वैसे सभी राज्यों ने केंद्र सरकार द्वारा प्रस्तावित दर को लागू कर लिया था। सबसे अधिक रोचक स्थिति थी कि अस्पतालों ने भी इन दरों को स्वीकार कर लिया था, जबकि वे उनकी सामान्य दरों से काफी कम थे। संभवतः वे अपनी क्षमताओं का पूरा उपयोग करना चाहते थे।

मानकों के मामले में बहुत से विचार और परामर्श भी प्राप्त हुए थे। उनमें से किसी भी विचारों की जाँच नहीं हो सकी थी; पर उन्हें छोड़ा भी नहीं जा सकता था। निर्णय लेनेवालों की संतुष्टि के लिए सभी तर्कों का महत्त्व था।

सूचना तकनीक में मानकों को तैयार करने में भी बहुत जटिलताएँ थीं, क्योंकि निजी स्वास्थ्य बीमा में भी उन दिनों बहुत सी सूचना तकनीक का इस्तेमाल नहीं हो रहा था और उनमें पहचान एवं दावों के लिए कागजी कार्रवाई की पद्धति थी। आर.एस.बी.वाई. के प्रस्तुतीकरण में तकनीक का प्रमुख स्थान था। इसमें सफलता तब मिली, जब ऋषि गुप्ता और उनकी टीम ने फाइनेंशियल इनक्लूजन नेटवर्क ऐंड ऑपरेशंस पेटेंट लि. (FINO) के माध्यम से प्वाइंट ऑफ सेल (पी.ओ.एस.) मशीन का संचालन मुझे दिखाया कि मोबाइल के माध्यम से जीवमितीय (बायोमीट्रिक) आँकड़े हासिल किए जा सकते थे। अब तय यह करना था कि कौन से मानक केंद्रीय सरकार इस्तेमाल करेगी और कौन-कौन से राज्य सरकारों के लिए छोड़े जाएँगे, क्योंकि तभी राज्यों के लचीलेपन और बिना समझौतेवाले आवश्यक पहलुओं के बीच उचित संतुलन बन सकेगा। मानक की प्रकृति ऐसी हो, जिससे राज्यों में भी इनका प्रसार हो सके।

शुरुआती प्रतिक्रिया

इतने बड़े स्तर पर दुनिया भर में कहीं भी स्वास्थ्य बीमा अब तक नहीं हुआ था। शुरुआत में लगभग हर स्तर पर इस स्थिति का विरोध हुआ था। जितने बड़े भू-भाग को इस योजना को पार करना था, वह वाकई एक कठिन कार्य था। इस कार्य को पूरा करने के लिए जो उपकरण दिए गए थे, वे अपर्याप्त, बेकार तथा भोथरे थे। विचित्रता तो यह थी कि नौकरशाही में से एक व्यक्ति तो इसके कार्यान्वयन से पहले ही इसका श्रेय लेना चाहते थे। उन्होंने तो पहले ही नौकरशाही की सीढ़ियाँ चढ़ने में सफलता हासिल कर रखी थी। हालाँकि बहुतों को यह अंदाज नहीं था कि इसे कैसे किया जाए, फिर भी यह कार्य हुआ।

यह योजना अपने आप में कोई चमत्कार नहीं थी, पर भारत में शायद यह थी। पहले साल की समाप्ति पर इस योजना को “एक बेहतरीन तथा भारत में अन्य कार्यक्रमों के लिए महत्वपूर्ण शिक्षाओं के लागू होने के नमूने के तौर पर देखा गया और बहुत से अन्य देशों ने आर.एस.बी.वाई. योजना में अपनी रुचि भी दिखाई।”—विश्व बैंक। ‘बिजनेस आउटलुक’ पत्रिका ने इस योजना के अंतर्गत स्मार्ट कार्ड की संकल्पना को उन 25 विचारों में से एक माना, जो कि दुनिया बदल देंगे। गुचरन दास ने ‘द टाइम्स ऑफ इंडिया’ के साप्ताहिक स्तंभ में इसे ‘दीपावली का बेहतर उपहार’ कहा और ‘द वाल स्ट्रीट जर्नल’ ने एक लाभार्थी का उद्धरण दिया कि यह भारत की सर्वोत्तम योजना है। वैसे यह विवाद का विषय है कि यह योजना जो दावा करती है, उसकी हकदार है; पर वास्तविकता यह है कि सभी विषम परिस्थितियों के बावजूद यह योजना जारी रही।

आर.एस.बी.वाई. बिल्कुल विलक्षण योजना थी। बहुत सी अन्य सरकारी योजनाओं की तरह न होकर आर.एस.बी.वाई. एक निर्धारित लक्ष्य वाले समूह की जरूरतों को ध्यान में रखकर बनी थी। गरीबी रेखा से नीचे रहनेवाले परिवारों की आवश्यकताओं का आकलन करके ही इसकी संकल्पनात्मक रूपरेखा तैयार की गई थी।

इस योजना के लाभार्थी पारिभाषिक रूप से गरीब थे और इनसे आशा नहीं की जा सकती थी कि वे चिकित्सकीय लाभ के लिए संसाधन का उपयोग कर सकेंगे और फिर इसका दावा भी प्राप्त कर सकें। वे काफी हद तक अनपढ़ थे और उसके दावों के लिए कागजी कार्रवाई कर पाने में भी सक्षम नहीं थे। बहुत से ग्राहक तो काम की तलाश में रहनेवाले प्रवासी भी थे। इस प्रकार उनके नियत स्थान पर लाभ उपलब्ध कराना था। बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और इसी तरह के अन्य राज्यों से आए प्रवासी कामगारों को इस योजना के अंतर्गत उनके काम करनेवाले स्थान के किसी भी अस्पताल से लाभ पहुँचाना था। इस समस्या का समाधान स्मार्ट कार्ड के द्वारा संभव था। आर.एस.बी.वाई. ने स्मार्ट कार्ड्स को अलग-अलग भागों में रखने की भी व्यवस्था बनाई थी, ताकि प्रवासी मुखिया अपने साथ स्वास्थ्य बीमा का कुछ भाग ले जा सके और बाकी हिस्सा अपने परिवार के पास छोड़ सके। इस विभाजन की राशि का विकल्प लाभार्थी पर निर्भर था।

इस प्रकार, आर.एस.बी.वाई. ने गरीबी रेखा से नीचे रहनेवाले परिवारों को विकल्प प्रदान करने की सुदृढता दी थी। वर्तमान अस्पताल की सेवाओं की स्थिति में निर्धन व्यक्ति निजी अस्पतालों का खर्च वहन करने में असमर्थ हैं। आर.एस.बी.वाई. योजना के तहत लाभार्थी के सामने देश भर में निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के सूचीबद्ध अस्पतालों में से किसी को भी चुनने का विकल्प है। वे इनकी सेवाओं के लिए किसी से भी बंधे नहीं हैं। नेशनल रूरल एंजलॉयमेंट गारंटी स्कीम (एन.आर.ई.जी.एस.) ने उन्हें एक योजना और सार्वजनिक वितरण योजना की दुकान से बाँध रखा था। इन योजनाओं के अंतर्गत लाभार्थी के पास विकल्प नहीं था, किंतु आर.एस.बी.वाई. के लाभार्थियों के पास विकल्प था। वे अपनी सेवाओं के लिए प्रदाता स्थान तय कर सकते थे और यह उन्हें मजबूती भी देता था। इस संबंध में यह प्रथम प्रयास था। देश भर में काम करनेवाली किसी अन्य बीमा योजना ने ऐसी सुविधा प्रदान नहीं की थी और न ही उनके पास अस्पतालों का इतना बड़ा नेटवर्क ही था। यह अपने आप में एक रिकॉर्ड था।

सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों की बीमा कंपनियाँ पहले से मौजूद रोगों को अपने बीमा में शामिल नहीं करती थीं, जबकि आर.एस.बी.वाई. ने इसे शामिल किया था। इसने अपने ग्राहकों को अपनी पहले से मौजूद बीमारियों को तय करने की परेशानी से भी बचाया था। आर.एस.बी.वाई. के अंतर्गत ग्राहकों की बड़ी संख्या को ध्यान में रखते हुए पहले से मौजूद रोगों को तय करना व्यावहारिक रूप से असंभव था और इससे बहुत से विवाद भी होंगे। हालाँकि पहले से मौजूद रोगों को शामिल करने का इसके प्रीमियम पर प्रभाव पड़ा और इसने इसके कार्यान्वयन को आसान भी बना दिया था।

विशेष तरह के समूहों के बीमा के लिए यह योजना नकद-रहित लेन-देन वाली बनाई गई थी। नकद लेन-देन के लिए अस्पताल को केवल 100 रुपए परिवहन खर्च के लिए अधिकृत किया गया था, मगर इसमें लाभार्थी के वहाँ भरती होने की स्थिति अनिवार्य थी। अस्पताल के लिए पॉलिसी में शामिल दवाइयाँ, भोजन, ठहरने का इंतजाम आदि के खर्च की दर बीमा कंपनी ही बनाएगी।

लाभार्थी को स्मार्ट कार्ड जारी होने के समय सिर्फ 30 रुपए का भुगतान करना होगा। इसे गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों के लाभ के प्रति किए जानेवाले प्रथम प्रयास के रूप में भी देखा गया। चूँकि कार्ड मुफ्त नहीं था और लाभार्थी ने 'कार्ड' की कीमत भी समझी तथा जिन सेवाओं की उसने माँग की, उसके लिए उसका कुछ भुगतान भी था।

इस योजना का उद्देश्य कागज-रहित संचालन का था। इसलिए स्मार्ट कार्ड जारी करने, अस्पताल में भरती होने तथा छोड़ने में भी किसी तरह के दस्तावेजों की आवश्यकता नहीं थी। अधिकतर शल्य चिकित्सा-पद्धतियों के मानक तय थे और उनकी लागत नियंत्रित थी। अस्पतालों के दावों का निस्तारण इलेक्ट्रॉनिक पद्धति से ही तय था। यह व्यवस्था कागज की तुलना में अधिक व्यावहारिक, अभूतपूर्व और विलक्षण थी।

आर.एस.बी.वाई. के व्यावसायिक नमूनों ने इसे गर्व महसूस कराया था। इसके अंतर्गत सार्वजनिक और निजी—दोनों को ही आर्थिक प्रोत्साहन की स्वतः व्यवस्था थी। बीमा कंपनियों को अधिक-से-अधिक स्मार्ट कार्ड जारी करने पर प्रोत्साहन राशि मिलनी थी, क्योंकि स्मार्ट कार्ड की संख्या पर ही उनका भुगतान तय था। ठीक इसी प्रकार, अस्पतालों को भी लाभार्थियों की तलाश नहीं करनी पड़ती थी, क्योंकि उन्हें लाभार्थियों के इलाज के लिए हुई क्षतिपूर्ति का भुगतान हो जाता था। यह वाकई सभी कंपनियों के लिए लाभ की स्थिति थी, जिसमें सरकारें भी शामिल थीं; क्योंकि जब बीमा कंपनियाँ और अस्पताल अपनी जिम्मेदारी निभाते थे, तब आर.एस.बी.वाई. का भी उद्देश्य पूरा होता था।

सार्वजनिक और निजी साझेदारी के माध्यम से सामाजिक क्षेत्र की यह योजना एक विलक्षण प्रयास भी था। शुरुआत में इसके प्रीमियम की राशि सरकार द्वारा प्रदान की गई; परंतु यह योजना बीमा और स्वास्थ्य सेवाओं के लिए सार्वजनिक और निजी—दोनों के लिए ही थी, जिसके द्वारा आर.एस.बी.वाई. को लागू करने में अड़चन भी आई थी। हालाँकि इस योजना की सफलता के परिणामस्वरूप निजी क्षेत्रों और गैर-सरकारी संगठनों ने अपने संघटकों के लिए स्वास्थ्य बीमा प्रदान करने हेतु प्रीमियम देने की इच्छा जताई थी। इस प्रकार, सार्वजनिक और निजी संस्थानों ने इस योजना को सफल बनाने के लिए कार्य किया।

जब से देश में सूचना प्रौद्योगिकी की क्रांति आई, तब से इन उपकरणों का इस्तेमाल सार्वजनिक रूप से भी हुआ। हालाँकि शायद यह पहली बार ही था, जब सूचना तकनीक का इस्तेमाल ग्रामीण क्षेत्रों में इस व्यापक स्तर पर हुआ था। सूचना तकनीक के माध्यम से ही यह योजना त्रुटिहीन बन सकी। नेशनल इंफॉर्मेटिक्स सेंटर के अधिकारी एस.के. सिन्हा के कुशल मार्गदर्शन में 'की मैनेजमेंट सिस्टम' (के.एम.एस.) भी बना, जिससे बायोमीट्रिक्स संचालन में सहायता मिली और इसी कारण इसके दुरुपयोग एवं नकल की संभावना पर भी रोक लगी।

आर.एस.बी.वाई. ने इस योजना के लिए एक अलग नौकरशाही की व्यवस्था की माँग नहीं की थी। सबसे रोचक यह है कि इतने बड़े स्तर पर और जटिल कार्य को लागू करने के बावजूद शुरुआत के दो वर्षों तक केंद्रीय स्तर पर किसी भी तरह की अतिरिक्त नियुक्ति नहीं की गई थी। यहाँ तक कि राज्य स्तर पर भी केवल मौजूद नौकरशाही के ढाँचे का ही इस्तेमाल किया गया था। हालाँकि इसमें कई स्तर जैसे पुनः सुधार और निर्णय के स्तर एवं प्रशिक्षण प्रदान करने में भी चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

हालाँकि यह योजना अलग तरह की थी। यह संकल्पनात्मक दृष्टिकोण से भिन्न थी और इसे लागू करने का तरीका भी अलग था, साथ ही देश के गरीब-से गरीब व्यक्ति के जीवन पर भी इसने अलग तरह का प्रभाव डाला था।

अंतरराष्ट्रीय एजेंसियाँ : आर.एस.बी.वाई. अति आभारी है

स्वास्थ्य बीमा का विचार सबसे पहले अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन में चर्चा के दौरान उठा था। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन में कार्यदल का प्रतिनिधित्व मार्क सोक्वेट कर रहे थे। उन्होंने चर्चाओं की एक शृंखला में हिस्सा लिया और देश में चल रही स्वास्थ्य बीमा योजनाओं के आकलन में इस समूह की सहायता भी की थी। वे देश भर में चल रही स्वास्थ्य बीमा योजनाओं के आकलन और उन्हें एक साथ जोड़ने के मामले में उपयोगी राय देने में सहायक भी थे। हालाँकि बाद में यह सहयोग काम नहीं आया। इसकी तार्किक संकल्पना को लेकर कुछ मतभेद उभरे थे। उस संगठन का उद्देश्य सिर्फ दस्तावेजी तैयारी तक ही नजर आया था।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के इस समर्थन की प्रतिक्रिया में निरुत्साह था और मार्क सोक्वेट के अनुबंध को आगे नहीं बढ़ाया गया। हालाँकि आगे चलकर संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) के साथ अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस योजना को दुनिया की सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में से बेहतरीन योजना माना था। इस योजना का विवरण इन एजेंसियों ने संयुक्त रूप से प्रकाशित किया था। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन भी बाद में इस योजना के साथ प्रयोगात्मक परियोजनाओं के रूप में शामिल हो गया, जिसमें बाहरी मरीजों के लिए आर.एस.बी.वाई. के स्मार्ट कार्ड के इस्तेमाल की व्यावहारिकता की परख थी।

बराक ओबामा ने अपनी आत्मकथा 'ऑडेसिटी ऑफ होप' में लिखा है— “विश्व बैंक की प्रतिष्ठा है कि वह बड़ी परियोजनाओं के लिए बड़े आर्थिक प्रबंध करता है, जिससे अधिक लागतवाले परामर्शदाताओं और स्थानीय उच्च वर्ग को लाभ होता है; परंतु यह आम नागरिकों के लिए बहुत ही कम काम करता है; हालाँकि जब ऋण बकाया हो जाता है, तब यही साधारण लोग जिम्मेदारी उठाते हैं। वाकई जो देश वर्तमान अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के अंतर्गत विकसित हो चुके हैं, वे अकसर नवजात उद्योगों की सुरक्षा के लिए वाशिंगटन के दृढ़ आर्थिक आदेशों की अनदेखी करते हैं और आक्रामक औद्योगिक नीतियों में लिप्त हो जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक को यह जानना जरूरी है कि प्रत्येक देश के विकास के लिए एकमात्र सूत्र जैसी कोई चीज नहीं है।”

आर.एस.बी.वाई. की सफलता के सहायक

विश्व बैंक के विशेषज्ञों के समूह से मिली सहायता के मामले में आर.एस.बी.वाई. सौभाग्यशाली थी, क्योंकि ये लोग ओबामा की सोचवाली श्रेणी में नहीं आते थे। वाकई आर.एस.बी.वाई. कभी सफल नहीं हो पाती, यदि उसे विश्व बैंक का समर्थन न मिला होता, जिसमें खासतौर से रॉबर्ट पैलासिआस और उनकी टीम शामिल थी। ये टीम में फिलिप ओकीफ, चैंगक्विंग सुन, सुमिता चोपड़ा और विली टी. वेड शामिल थे। रॉबर्ट की सकारात्मक मध्यस्थता ने यह सुनिश्चित कर दिया था कि विश्व बैंक के साथ इसका संयोजन सुदृढ़ था। उनका सौहार्दपूर्ण व्यवहार और कभी न रुकनेवाली भावना इसके लिए बहुत उपयोगी थी। वे हमेशा किसी समाधान की तलाश में रहते थे और अक्सर इसे पाते भी थे। उन्होंने इसके पहले सॉफ्टवेयर के लिए वित्त का भी प्रबंध किया था, जिसे उन्हें वाशिंगटन में स्पष्ट भी करना पड़ा था। इस सॉफ्टवेयर ने यह दर्शाया था कि इस योजना में स्मार्ट कार्ड की तकनीक काम करेगी। श्रम और नियोजता मंत्रालय के पास इस तरह की तकनीक से संचालित होनेवाली योजना के अवलोकन का साधन नहीं था। पैलासिआस ने भी विश्वास दिलाया था कि सभी तरह की तकनीकी सहायता उपलब्ध होगी। दुर्भाग्यवश विश्व बैंक के पास ऐसे लोगों का अभाव था, जिन्होंने इस संस्था को बदनाम किया था। संभवतः ओबामा ने ऐसे ही लोगों को जिम्मेदारी सौंपी थी, जो कि विश्व बैंक के अपारदर्शी, लोचहीन, दुरुह और संवेदनहीन हिस्से थे। यहाँ तक कि समझौते के बावजूद मंत्रालय नौकरशाही की लालफीताशाही में जकड़ा हुआ था और उसने इस योजना को धमकाया भी था; पर पैलासिआस ने विश्वास दिलाया था कि परामर्शदाताओं का कार्यकाल बढ़ा दिया जाएगा।

चैंगक्विंग का पुनर्नाम 'चैन सिंह' कर दिया गया था, क्योंकि उन्होंने कुछ चैन दिया था। वे हताश करनेवाली परिस्थितियों को नजरअंदाज करते हुए जटिल आँकड़ों के प्रबंधन के लिए समाधान दिया करते थे। कई तरह की वीजा संबंधी समस्याओं के कारण उन्हें देश से बार-बार बाहर जाना पड़ता था; पर वे इस योजना को लागू करने के प्रति समर्पित थे। उनकी प्रतिबद्धता और अध्यवसाय अनुकरणीय था।

सुमिता चोपड़ा तो अतुलनीय थीं। विश्व बैंक ने उन्हें इस योजना को लागू करने के लिए परामर्शदाता के रूप में नियुक्त किया था। वे आर.एस.बी.वाई. को ही खाती, पीती और सोती थीं। वे संभवतः इस योजना के बारे में अन्य जुड़े हुए लोगों से अधिक जानती थीं। इस विषय में उनकी तकनीकी जानकारी भी काफी उपयोगी सिद्ध हुई और इसीलिए उनकी जरूरत लगभग सभी जगहों पर थी। उन्होंने राज्य स्तर की सभी कार्यशालाओं की यात्रा की थी और उसके प्रस्तुतीकरण को सुगम बनाया था। उन्होंने आर.एस.बी.वाई. पर प्रथम वृत्त चित्र भी बनाया और उसे पेशेवर कार्य के लिए रखा भी था। वे आर.एस.बी.वाई. की प्रतिमूर्ति बन चुकी थीं।

इस योजना को लागू करने में बहुत से दस्तावेजों का मानकीकरण वाकई जटिल कार्य था और फिलिप ओ'कीफ ने इसमें बहुत सहायता भी की थी। इन मानकों के अभाव में पहले भी कई बार ऐसे प्रयास असफल हो चुके थे। यह योजना बीच में ही रुक गई थी, क्योंकि उन्हें व्यक्तिगत कारणों की वजह से देश से बाहर जाना पड़ता था; परंतु उनका सहयोग वाकई तब महत्वपूर्ण था, जब बहुत से लोगों को लगता था कि यह योजना सफल नहीं हो पाएगी।

विली टी. वेड भी अलग ही तरह के व्यक्ति थे और उन्होंने इस टीम को नए आयाम दिए थे। तकनीकी पहलुओं और सूक्ष्म अर्थभेदों को समझने की उनकी काबिलीयत ने जटिल मुद्दों को आसान बना दिया था। अपने बहुत ही सहज व्यवहार के बावजूद वे हमेशा सजग रहते थे।

जर्मनी की जी.आई.जेड. के डॉ. निशांत जैन ऊर्जा से भरे हुए व्यक्ति थे। श्रम मंत्रालय का जी.आई.जेड. के साथ समझौता नहीं था (कुछ अजीब से अस्पष्ट कारणों की वजह से शुरुआत में कोई चाहता भी नहीं था), परंतु संगठन ने इस योजना के लिए इस कीमत को समझा और आर.एस.बी.वाई. की सहायता के लिए स्वास्थ्य मंत्रालय के साथ जारी समझौते के तहत वित्त का इस्तेमाल किया। इस योजना के लागू होने के बाद मिली अधिकतर सफलता का श्रेय जी.आई.जेड. की इस छोटी सी टीम को ही जाता है, जो कि आर.एस.बी.वाई. आंदोलन का एक आंतरिक हिस्सा थी। इस सहयोग का सबसे महत्वपूर्ण कारक इसके उद्देश्यों के साथ इनकी अनुकूलता थी, जो कि डॉ. निशांत जैन के नेतृत्व में ही था। उनके पेशेवर दृष्टिकोण ने इसे और भी आसान बना दिया था। हममें से कोई भी यकीन नहीं कर सका था, जब उन्होंने अपनी शादी से दो दिन पहले ही राज्य स्तर की कार्यशाला में इसका प्रस्तुतीकरण किया था। जब आर.एस.बी.वाई. का विस्तार सारे देश में हुआ, तब वे ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने इसकी गति को बनाए रखा तथा एक राज्य की राजधानी से दूसरे राज्य की राजधानी तक की यात्रा इसके संचालन में आनेवाली समस्याओं को दूर

करने के लिए करते रहे।

चोपड़ा बहुत ही तीक्ष्ण और तकनीकी रूप से कुशल महिला थीं। इस योजना के संचालन में कई तरह की तकनीकी समस्याएँ भी आई थीं। इनमें से कुछ समस्याओं का समाधान तत्काल ही आवश्यक होता था। वे न केवल इन समस्याओं का समाधान ही करती थीं, बल्कि स्वेच्छा से पिज्जा और कॉफी के बिल का भुगतान भी करती थीं। वे ध्यान में यकीन रखती थीं और किसी भी तरह की विषम परिस्थितियों में स्वयं को शांत रखने में सक्षम थीं। इस योजना को पूर्णता प्रदान करने में प्रत्येक व्यक्ति का भरपूर सहयोग रहा है। आर.एस.बी.वाई. ऐसे ही लोगों के द्वारा शुरू हुई और जारी भी रही।

इस योजना के चौथे वर्ष जी.आई.जेड. के साथ इसका एक संस्थागत समझौता भी हुआ था और इसी के साथ रॉल्फ श्मैसटबर्ग भी आए, जो कि जी.आई.जेड. टीम के प्रमुख भी थे। रॉल्फ सभी मायनों में सहायक थे तथा उनका सहयोग सभी तरह की चर्चा में था। स्मार्ट कार्ड की क्षमता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने आर.एस.बी.वाई. टीम के दो स्मार्ट कार्ड की परियोजनाओं को तकनीकी रूप से विकसित जर्मनी के नगर निगम में अपनाया था। वैसे उनकी विनोदप्रियता ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा था। जब योजना का विस्तार कामगारों के अन्य वर्गों में हुआ, तब उत्पन्न हुई बहुत सी चुनौतियों का सामना करने के लिए जी.आई.जेड. औपचारिक रूप से सामने आई।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.जी.पी.) और यूनीसेफ (UNICEF) जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठनों का सहयोग भी कई मामलों में लाभप्रद रहा, जिससे इस योजना के कार्यान्वयन में आसानी हुई थी। केंद्रीय सरकार के स्तर पर इन एजेंसियों के द्वारा बहुत से कार्य उन प्रयासों की तुलना में आसानी से हो पाए, जिनमें आंतरिक वित्त विभाग से अनुमति लेनी पड़ती और जिनकी क्षमता संभवतः उनके द्वारा उत्पन्न किए अवरोधों की संख्या से ही तय होती थी।

अंतरराष्ट्रीय विकास विभाग से प्राप्त आर्थिक सहायता इस योजना के महत्वपूर्ण पहलुओं को देखते हुए आसानी से उपलब्ध हो गई थी। इस योजना के सामने लाभार्थियों तक प्रभावशाली ढंग से लाभ पहुँचाना एक बड़ी चुनौती थी। इस संदर्भ में निर्धनतम क्षेत्र के लोगों के लिए वित्त प्रबंध में डी.एफ.आई.डी. की भूमिका अग्रणी थी। देश में पी.ए.सी.एस. (पूअरेस्ट एरिया सिविल सोसाइटी) के प्रमुख राजीव खोसला और बहुत से क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं का सहयोग इस चुनौती का सामना करने में हुआ था।

वास्तव में अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों के सहयोग के बिना यह योजना पूरी न हो पाती। ये एजेंसियाँ और व्यक्ति इस तथ्य से परिचित थे कि इस योजना के प्रत्येक पहलू का विवरण जमीनी स्तर पर गाँवों में और शहरों में स्वतः होना है, न कि राजधानियों और वाशिंगटन में (जेफरी डी. सैश, 'द एंड ऑफ पावर्टी')।

श्रम मंत्रालय अपने आप में एक चुनौती था

श्रम मंत्रालय ने इस योजना को लाने और लागू करने में बहुत बड़ा प्रयास किया; परंतु वह इस जटिल योजना के अभूतपूर्व अनुभवों को सँभालने के लिए पूरी तरह से अनुपयोगी साधनों पर निर्भर था। जिस तथ्य ने इस कार्य को और भी कठिन बनाया था, वह इस योजना की जटिलता के महत्त्व को न समझना था। इसे सरकार की अन्य योजनाओं की तरह ही मान लिया गया था। इसके सार तत्त्व पर ध्यान देने की बजाय सिर्फ रूप पर ही ध्यान दिया गया था। इसके अर्थभेद को ध्यान में रखे बिना ही कई अवसरों पर केवल वायदे ही किए गए थे। संभवतः एन.आर. नारायण मूर्ति ने इन्हीं नौकरशाहों को ध्यान में रखते हुए टिप्पणी की थी, “हमारे नौकरशाहों को अपने वरिष्ठों (जिनमें राजनीतिक या अन्य लोग) को दिए उनके सम्मान से अभिभूत होने की बजाय अपने विश्वास और मूल्य के लिए खड़े होना सीखना होगा।”

इस योजना के लागू होने के पहले साल स्थिति काफी खराब थी। इसका संचालन करनेवाले प्रमुख व्यक्ति का आशय सिर्फ सत्ता प्रतिष्ठान को संतुष्ट करना था। इसलिए 12 सितंबर, 2007 को स्मार्ट कार्ड जारी करने के आवश्यक निर्देशों की शुरुआत 2 अक्टूबर से हो सकी। इस तरह की नाटकीयता शायद महात्मा गांधी कभी पसंद न करते। इस तरह के निर्देश जारी होने से पहले किसी तरह की आवश्यक पूर्व स्थिति की तैयारी नहीं की गई थी। इसका इरादा शायद यह दर्शाता था कि यह पूरी योजना को रद्द कर सकता था। रोड शो के ऐसे प्रयास अतीत में लाभप्रद थे। मंत्रालय में इस तरह के उदाहरण भी हैं, जब स्मार्ट कार्ड लागू होने का कार्यक्रम तत्कालीन राष्ट्रपति की मौजूदगी में हुआ था, परंतु बाद में इसमें कुछ न हो सका। हालाँकि यह केवल निर्देश मात्र ही था कि इसे लागू करना है। सौभाग्यवश, प्राधिकारियों की नापसंदगी का विरोध हुआ और यह योजना असफल होने से बच गई, जिस तरह से स्मार्ट कार्ड जैसी अन्य सार्वजनिक योजनाएँ हुई थीं।

श्रम मंत्रालय में कुछ विशेषज्ञ भी थे, जिन्होंने बिना परिणामों की चाह किए ही इसकी संकल्पनात्मक रूपरेखा में बदलाव किए। परिणामतः इसमें बहिरंग रोगियों (ओ.पी.डी.) को शामिल करने पर असहमति थी। इस स्थिति में अंतर्निहित ‘नैतिक संकट’ पूरी योजना को ही नुकसान पहुँचा सकता था। यहाँ केवल परामर्श ही व्यर्थ नहीं था, बल्कि विशेषज्ञ बलपूर्वक इसे बदलना भी चाहते थे। निजी क्षति की क्षमता के बावजूद इस दल ने बल-प्रयोग का प्रतिरोध किया और इस योजना के कार्य के साथ समझौता नहीं किया।

इस समस्या की मूल वजह आर.एस.बी.वाई. की भिन्नता को समझ पाने की अयोग्यता और फिर उसका अलग तरह का समाधान था। इस योजना की जटिलता को ध्यान में रखते हुए इसका विपणन अधिक जरूरी था, न कि इसे बलपूर्वक बाजार में उतारना। इसे सुसाध्य बनाना था, न कि केवल निरीक्षण करना; और इसे समझना आवश्यक था, न कि केवल सरसरी निगाह से देखना। इस योजना के लिए बहुत ही धैर्य व प्रतिबद्धता तथा श्रेय देने की जरूरत थी, जिसका बहुत से लोक-सेवकों में अभाव था। सौभाग्यवश, वाकई कुछ ऐसे थोड़े अधिकारी ही थे, जिन्हें इस योजना और स्वयं में विश्वास था। वे जोखिम उठाने, प्रयोग करने और सीखने के लिए तैयार थे। इस टीम ने उदासीनता, असहयोग और कभी-कभी तो आक्रामक रवैया होने के बावजूद अपना इरादा नहीं छोड़ा था; जबकि उपर्युक्त हालात अविश्वास, असहयोग और जिद को समेटे हुए थे। इस योजना के विपणन में काफी यात्रा करने की जरूरत थी, पर व्यक्ति यह यकीन से नहीं बता सकता था कि इस योजना के शुरुआती वर्षों में यात्रा कार्यक्रमों को स्वीकृति मिलेगी या नहीं। यह सभी कुछ उच्च अधिकारी की मानसिकता पर ही निर्भर था और इस अनिश्चितता ने कई बार असहजता उत्पन्न की थी। इस योजना की सफलता को देखते हुए विश्व बैंक ने एक अधिकारी को इसके प्रस्तुतीकरण और योजना के बारे में अन्य देशों के प्रतिनिधियों से वार्ता करने हेतु वाशिंगटन में होनेवाली वार्षिक सभा में शामिल होने का आमंत्रण दिया था। आवश्यक स्वीकृतियों एवं प्रतिबद्धताओं के उपरांत यह यात्रा हुई थी। हालाँकि बिना किसी वजह के ही संबंधित अधिकारी की यात्रा तीन दिन से घटाकर एक दिन कर दी गई थी। इस प्रकार, वाशिंगटन में समय लगाने के बजाय यात्रा में ही अधिक समय व्यतीत हुआ। इस स्थिति ने मुद्दों के प्रति अंगभीरता को ही दर्शाया था।

इस योजना से संबंधित फाइलों की तैयारी में भी काफी समय लगा, जबकि इसके लिए समय सीमा निर्धारित थी। केंद्रीय सरकार इसके संचालन के लिए राज्यों में स्वतंत्र एजेंसियों को स्थापित करने के लिए तैयार हो चुकी थी। हालाँकि यह केंद्र में इसी तरह की व्यवस्था में अपने पाँव पीछे खींच रही थी, यह इस योजना को स्थायित्व प्रदान

करनेवाले संस्थानों के निर्माण के प्रयासों में रुकावट थी। इन संस्थानों के निर्माण में अब तक सिर्फ नौकरशाही के पदानुक्रम और राजनीतिक उद्योग ही बने रहे थे। इस तरह के ढाँचे कुछ भी बेहतर कर पाने में असफल थे, परंतु कुछ नौकरशाह ही इस स्थिति में ऊपर उठ सके।

फिर भी, आर.एस.बी.वाई. की शुरुआत हो ही गई। बिना तैयारी वाले मंत्रालय के कारण उत्पन्न अवरोध के बावजूद यह योजना अपने कार्य में सफल रही। इस योजना के कार्य करने की वजह इसकी विलक्षण कल्पना-शक्ति, सुस्पष्टता और मंत्रालय के भीतर के ही कुछ नौकरशाहों का इसका आकलन तथा इसे लागू करने का इरादा था। यह इसलिए भी शुरू हो सकी, क्योंकि नौकरशाहों के इस छोटे से समूह ने अपने-अपने कैरियर को जोखिम में डालते हुए बहुत से निर्णय लिये थे। यह वाकई आसान काम नहीं था। ए.वी. सिंह और उर्मिला गोस्वामी जैसे अधिकारी, जिन्होंने इस समूह का गठन किया था, इन्होंने इस योजना के दीर्घकालीन हितों को ध्यान में रखते हुए किसी तरह के दबाव में आकर न तो इसे छोड़ा और न हार मानी। श्री सिंह की अत्यधिक रुचि कविताओं में थी और वे परिस्थितियों में उत्पन्न तनाव को उचित शोरो-शायरी और लघु कथाओं से कम कर दिया करते थे। गोस्वामी को वित्तीय प्रक्रियाओं के मामलों की काफी अच्छी जानकारी थी, साथ ही वे इन पद्धतियों की फाइलों को तेजी से आगे बढ़ाने में होनेवाले इस्तेमाल से भी परिचित थीं।

आर.एस.बी.वाई. के पीछे के बड़े नाम

इस योजना के शुरुआती वर्षों में अतिरिक्त सचिव एस. कृष्णन, जो कि बाद में विशेष सचिव के पद पर पहुँचे थे, ने इसे अपना मार्गदर्शन और सहयोग प्रदान किया था। बाद के वर्षों में सचिव प्रभात चतुर्वेदी ने इस योजना की सफलता में अपना विशेष योगदान दिया था। इस योजना ने अपने विकास के दौर में कई तरह की चुनौतियों का भी सामना किया था। इसमें वाकई उन लोगों से एक तरह का तनाव मिलता था, जो कि हर काम को कल पर टालना चाहते थे। इन्हीं दिनों श्रीकृष्णन के संतुलन, धैर्य और लगन ने इसे एक भिन्नता प्रदान की थी। वे सूचना प्रौद्योगिकी की बैठकों में अध्यक्ष के रूप में विभिन्न मुद्दों पर चर्चा और समाधान के लिए घंटों बैठते थे। उन्होंने हमेशा मुक्त चर्चाओं को प्रोत्साहित किया और किसी तरह की राय या कथन का गलत अर्थ नहीं लगाया। उनकी सकारात्मक भावना से पूरा दल प्रेरित होता था। प्रभात चतुर्वेदी एक अलग तरह के नौकरशाह थे। उनके कार्यकाल के दौरान इस योजना को अभूतपूर्व सफलता मिली थी।

योजना की इस विकास गति को उनकी सेवानिवृत्ति के बाद एक रुकावट का भी सामना करना पड़ा। नए सचिव भी एक बेहतरीन इरादों वाले नौकरशाह थे; परंतु उन्हें बीमा के स्वास्थ्य संबंधी परिणाम देने पर गंभीर आशंका थी। जब आर.एस.बी.वाई. की टीम को मंत्रालय का दबाव महसूस हुआ, तब इस योजना के विस्तार पर एक रुकावट आई। इस योजना की सराहना वैसे तो सभी जगह हुई, पर अपने घर में ही इस पर सवाल उठाए गए। ऐसे बहुत से विभाग थे, जो कि अपने-अपने क्षेत्रों में स्वास्थ्य बीमा प्रदान करने के लिए आर.एस.बी.वाई. लागू करने के इच्छुक थे, परंतु श्रम मंत्रालय उन्हें अनुमति देने में असहज था। इस स्थिति में एक राष्ट्रीय मंच सिकुड़कर विभागीय स्तर तक पहुँच चुका था और इसका नुकसान योजना की गतिशीलता को मिला। जब इस योजना को आर्थिक सहायता की जरूरत थी, तब वित्त मंत्रालय से अतिरिक्त धन आवंटन के लिए अनुबंध किया गया था। हालाँकि श्रम मंत्रालय को लिखे अपने पत्र में वित्त मंत्रालय ने निर्देश दिए थे कि चूँकि श्रम मंत्रालय का क्षेत्र विस्तृत हो चुका है, इसलिए आर.एस.बी.वाई. को मंत्रालय की उन योजनाओं की बचत से धन उपलब्ध कराना चाहिए, जहाँ धन का पूरा उपयोग नहीं हो रहा है। किंतु श्रम मंत्रालय जोर देते हुए कह रहा था कि अन्य योजनाओं में आवंटित धन का पूर्णरूपेण उपयोग होगा। धन के अभाव ने आर.एस.बी.वाई. की गाड़ी को पटरी से उतार दिया था, क्योंकि बीमा कंपनियों को प्रीमियम न मिल सका और इसी वजह से अस्पतालों के दावों के भुगतान में देरी हुई। चूँकि अस्पतालों के भुगतान बकाया थे, इसलिए बहुत से मामलों में लाभार्थियों को आर्थिक सहायता नहीं मिल सकी। अंततः वित्त मंत्रालय नरम पड़ा और इस योजना को आकस्मिक निधि से धन आवंटित किया। श्रम मंत्रालय की निष्ठुर उदासीनता के कारण इस योजना को अनावश्यक परेशानियों का सामना करना पड़ा था, जबकि धन की व्यवस्था मंत्रालय के अंतर्गत अन्य योजनाओं से हो सकती थी। यहाँ तक कि इस निधि का भी उचित इस्तेमाल न हो सका था।

जब इस योजना को नए सचिव का समर्थन प्राप्त हुआ, तब स्थितियों में पुनः परिवर्तन हुआ। वैसे इस परिवर्तन में भी समय लगा था, क्योंकि नए सचिव ने इस योजना के अर्थभेद को धीरे-धीरे ही समझा था।

अन्य केंद्रीय मंत्रालयों की संलिप्तता : विश्वास और अविश्वास का खेल

यह वाकई अजीब था कि जो मंत्रालय पहले स्वास्थ्य बीमा योजना की शुरुआत नहीं कर पा रहे थे। वे आर.एस.बी.वाई. के मार्ग को तय करने का प्रयास कर रहे थे। तकरीबन सभी सरकारी योजनाओं को मूर्तरूप देने में एक लंबा समय लगता है, क्योंकि इसमें सभी तरह के संभावित छिद्रों और दुरुपयोग के रास्तों को बंद करने का प्रयास किया जाता है। यह संपूर्ण तंत्र ही अविश्वास से घिरा हुआ था। यहाँ एक आशंका और भ्रम की स्थिति बनी हुई थी, इसलिए सबकुछ रुका हुआ था। किंतु आर.एस.बी.वाई. भिन्न था। हालाँकि केंद्रीय मंत्रालय को इसका यकीन दिलाना वाकई एक कठिन कार्य था।

वित्त मंत्रालय को अभी भी लगता था कि वित्त से संबंधित सभी फाइलों पर पकड़ रखे बिना एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न होगी और यह तंत्र पूरी तरह से धराशायी हो जाएगा। इसलिए वित्त मंत्रालय ने प्रत्येक प्रीमियम भुगतान से संबंधित फाइलों की प्रक्रिया पर जोर देने के लिए एक आंतरिक वित्त विभाग को जिम्मेदारी दी थी। देश के 600 जिलों का मासिक प्रीमियम भुगतान प्रतिमाह जारी किए गए स्मार्ट कार्ड पर आधारित था और इसके लिए लगभग 7,200 फाइलों को नौकरशाही की सीढ़ियों पर ऊपर-नीचे अकारण ही जाना-आना पड़ता था। सिर्फ इस पद्धति के अलावा इस योजना में सबकुछ अलग था। चारों तरफ दुनिया बदल रही थी, परंतु वित्त मंत्रालय अपनी ही दुनिया में था और यह पद्धति अभी भी जारी है।

शुरुआत में वित्त मंत्रालय के विभाग को ही यूनिवर्सल हेल्थ इश्योरेंस स्कीम (यू.एच.आई.एस.) को लागू करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। दरअसल यह योजना सफल नहीं हो पाई थी। अब आर.एस.बी.वाई. को शुरू करने का मौका इस विभाग के पास था और उन्होंने इसकी शुरुआत तो की थी, परंतु जब उन्होंने इसमें विवाद देखा, तब वे इससे अलग हो गए; क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कंपनियाँ भी इसमें बोली लगा रही थीं और इसी वजह से नागरिक उड्डयन मंत्रालय एवं पेट्रोलियम मंत्रालय के निर्णयों में भी रुकावट आ गई, क्योंकि इनके निर्णय इन कंपनियों को भी प्रभावित करेंगे और इसकी वजह इनका सरकारी होना था। हालाँकि यह विभाग बहुत ही अड़ियल था और किसी भी स्थिति में किसी के पास वह युक्ति नहीं थी, जिससे वित्त मंत्रालय के आदेशों को अस्वीकार किया जाए।

स्वास्थ्य मंत्रालय नुकसान की स्थिति में था। यह राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के हिस्से के रूप में स्वास्थ्य बीमा क्षेत्र में आ चुका था, पर पहले वर्ष कुछ भी हुआ नहीं था। जबकि इसके विपरीत, आर.एस.बी.वाई. अपनी शुरुआत के कुछ महीनों में ही चलने लगी थी। केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय आर.एस.बी.वाई. में जिला स्तर पर रोगी कल्याण समिति के रूप में सभी संभव सहायता कर रहा था। हालाँकि स्वास्थ्य मंत्रालय ने राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन में स्वास्थ्य बीमा के इसके अंश के रूप में जारी रखने पर ध्यान नहीं दिया था। उन्होंने प्रस्तावित राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन में बीमा के विचार में दिलचस्पी ली थी। विचित्रता यह थी कि आर.एस.बी.वाई. और इस मिशन का लक्ष्य समूह एक ही था। सौभाग्यवश, बहुत सी बैठकों में काफी समय बिताने के बाद इस विचार ने मूर्त रूप लिया था।

सूचना मंत्रालय के कुछ नौकरशाहों ने चर्चा के दौरान मुद्दों से अधिक गैर-तकनीकी मुद्दों को उठाया था। उनके तर्क बहुत ही सीधे थे, जैसे प्रस्तावित योजना और तकनीक ने चूँकि पहले काम नहीं किया था, इसलिए यह भविष्य में भी काम नहीं करेगी। सबसे आश्चर्यजनक तो यह था कि इसमें नए प्रयोगों का विरोध उन लोगों ने किया था, जिन्हें इनका विशेषज्ञ होना चाहिए था। आर.एस.बी.वाई. को इस मंत्रालय से स्वतंत्र होकर आगे बढ़ना था। इस देश में सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति ने भी इसी तरह का मार्ग अपनाया था और जो कुछ उन्होंने कहा, वह इतिहास है।

ग्रामीण विकास मंत्रालय गरीबी रेखा से नीचे का आँकड़ा नहीं देगा, जो कि इस योजना की सफलता के लिए अति आवश्यक था। सबसे रोचक तो यह था कि मंत्रालय के पास आवश्यकतानुसार आँकड़े भी उपलब्ध नहीं थे। इसकी रूपरेखा को मंत्रालय ने काफी पहले ही तैयार कर लिया था, परंतु राज्यों ने इसकी सुनिश्चितता प्रदान नहीं की थी। हालाँकि जब एक बार आर.एस.बी.वाई. ने गति पकड़ी, तब उसने एक उत्सुकता पैदा की थी कि किस तरह से इस योजना में पिछला आँकड़ा मन्रेगा (MGNREGA) के आँकड़ों के लिए सहायक होगा, जो कि देश की अन्य महत्वपूर्ण योजना थी।

मनरेगा के लाभार्थी, जिन्होंने 15 दिन या और भी अधिक समय तक पिछले वित्तीय वर्ष में काम किया था, उन तक आर.एस.बी.वाई. को पहुँचाने के सरकार के निर्णय ने देश की दोनों महत्वपूर्ण योजनाओं के बीच एक सह-क्रिया का काम किया था।

योजना आयोग के अधिकारी बहुत ही सहयोगी थे। यहाँ तक कि किन्हीं मामलों में विरोध होने पर भी इसमें अधिक अंतर नहीं आता था।

उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलूवालिया के सामने हुए इसके प्रस्तुतीकरण से भी हमें लाभ पहुँचा था। वे इस योजना की शुरुआती प्रगति और इसकी संकल्पना से काफी प्रभावित थे। इस योजना को प्रधानमंत्री के सामने प्रस्तुत करने से पहले की ही यह जाँच थी। योजना आयोग के नौकरशाहों के साथ-साथ अन्य सदस्यों ने भी इस योजना के अर्थभेद को भली प्रकार समझा था और इसी तरह के संगठनों के सहयोग से इस योजना के कार्यान्वयन में आसानी हो गई थी।

□

आर.एस.बी.वाई. अभी भी जारी थी

असंगठित क्षेत्र में काम करनेवाले लोगों की सामाजिक सुरक्षा के लिए इसी क्षेत्र के राष्ट्रीय आयोग (एन.सी.ई.यू.एस.) ने एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। इसने 'काम कैसे होगा' के बजाय 'क्या काम होना चाहिए' पर अपना ध्यान केंद्रित किया था। शायद 'कैसे' को परिभाषित करना अधिक कठिन था, क्योंकि जो कुछ भी निर्धारित किया गया था, उसे कार्यान्वित करना असंभव तो नहीं, पर कठिन बहुत था; जैसे असंगठित क्षेत्र में काम करनेवालों को ग्राहक बनाना और उनसे प्रतिदिन 1 रुपया शुल्क लेना। यहाँ तक कि इसे लागू करने की संभावना पर चर्चा भी नहीं हुई थी। इस रिपोर्ट में निदान और निर्धारण मात्र ही था। यह निदान लापरवाही से भरा हुआ था और निर्धारण में किसी तरह का विवरण नहीं था। इसमें इस वास्तविकता की भी अनदेखी की गई थी कि यह निर्धारण पहले भी असफल हो चुका था और इस असफलता एवं इसकी वजह को भी जानने का प्रयास नहीं किया गया था। इस रिपोर्ट में किसी दिशा-निर्देश का परामर्श प्रस्तुत किए बिना सिर्फ एक दीर्घ चाहत ही दर्शाई गई थी। हालाँकि इस रिपोर्ट ने कुछ उद्देश्य अवश्य हासिल किए थे और जो लोग सरकार को परेशान करते थे, उनके लिए यह एक आसान उपकरण बन गया था। इसका संबंध उन समूहों से था, जो कि सबकुछ चाहते थे, पर उन्हें मिला कुछ भी नहीं; क्योंकि वे किसी चीज के लिए तैयार नहीं थे।

फिर भी, इन मंत्रालयों और विभागों में मौजूद समर्पित लोगों के समूह के कारण आर.एस.बी.वाई. सफल रही। इन्होंने विभागीय दृष्टिकोण की अनदेखी की और आर.एस.बी.वाई. को अधिक आकर्षक बनाने के लिए सभी संभव सहयोग किए। ऐसे भी बहुत से लोग थे, जिन्होंने बिना किसी लाभ की आशा किए ही इस योजना में सहयोग प्रदान किए। कई बार उन्हें रोका ही नहीं गया, बल्कि आर.एस.बी.वाई. में उनके निस्स्वार्थ सहयोग के लिए उनका मजाक भी बनाया गया। इसे व्यक्त नहीं किया गया, पर यह वास्तविकता थी। इन बेचैन, पर प्रतिबद्ध अधिकारियों की चाहत आर.एस.बी.वाई. की सफलता में सिर्फ 'आत्म-कार्यान्वयन' ही था।

बीमा के लोग : महत्त्वपूर्ण व्यक्ति

निर्धनों के प्रति सहायता का दृष्टिकोण आवश्यक है और इसमें उन्हें नई खोज एवं स्थायी उपलब्धियों के लिए शामिल करना होगा, जहाँ वे सक्रिय रूप से संलग्न हों और साथ ही जो कंपनियाँ उन्हें सेवाएँ व उत्साह उपलब्ध कराती हों, वे भी लाभान्वित हों। जब पिरामिड के निचले स्तर के निर्धनों के साथ एक ग्राहक की तरह व्यवहार होता है, तब वे सम्मान, विकल्प और आत्म-गौरव का लाभ उठा सकते हैं तथा उनके पास गरीबी की जकड़न से बाहर निकलने का अवसर होता है।

—सी.के. प्रह्लाद (द फॉच्यून एट द बॉटम ऑफ द पिरामिड)

शुरुआत में बीमा कंपनियों को भी विश्वास नहीं था कि यह योजना इतने बड़े स्तर पर कामयाब होगी। वे इसके लिए सिर्फ तैयार ही नहीं थे, बल्कि तैयार होने की भी उनकी इच्छा नहीं थी। शहरी क्षेत्रों के सुविधाजनक माहौल में काम करने की आदी कंपनियों के लिए इस तरह की महत्वाकांक्षी योजना में धन, प्रयास और समय लगाना उनके इरादों में नहीं था। बैठकों की एक लंबी श्रृंखला और काफी जमीनी तैयारी इन बीमा कंपनियों को यह विश्वास दिलाने में लगी कि सरकार का आशय व्यापार से था और इस योजना में बीमा कंपनियों के लिए व्यापार का एक बड़ा अवसर था। सरकार की अन्य बीमा कंपनियों की तरह यह नहीं थी, जिसमें केवल सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कंपनियाँ शामिल थीं और इससे संबंधित मंत्रालय का सहयोग होता था; जबकि आर.एस.बी.वाई. योजना में एक व्यापार का प्रस्ताव भी था। परिणामतः यह बाजार में आई और इसने विपणन भी किया।

इस तरह की जटिल योजना के लिए बीमा कंपनियाँ तकनीकी रूप से तैयार नहीं थीं, जबकि इनमें काफी अधिक तकनीकी निवेश की आवश्यकता थी। शुरुआत में हर बैठक में नया चेहरा होता था। ये चेहरे सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कंपनियों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें अधिकतर तो चर्चा में भाग लेते ही नहीं थे और जब लेते थे, तब केवल प्रारंभिक सवाल को ही पूछते थे। उनका यह व्यवहार वाकई विस्मयकारी था। शुरुआती स्तर पर सिर्फ एक सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कंपनी और दो निजी क्षेत्र की कंपनियाँ ने ही इसमें अपनी रुचि दिखाई थी।

निजी क्षेत्र की एक बीमा कंपनी के प्रतिनिधि ने आर.एस.बी.वाई. की कई बैठकों में बार-बार इसके संदर्भ और थर्ड पार्टी एडमिनिस्ट्रेटर्स (टी.पी.ए.) की भूमिका के बारे में स्पष्टीकरण माँगा था; जबकि हर बार उसे संतोषजनक जवाब दिया गया था। उसके पास बहुत से सवाल थे और वह हर बार उन्हें पूछता रहता था। सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों को भी निर्णयों के केंद्रीयकरण के कारण परेशानी का सामना करना पड़ता था, क्योंकि प्रत्येक निर्णय के लिए उन्हें मुख्यालय पर निर्भर रहना पड़ता था। वैसे धीरे-धीरे स्थितियाँ बदलती गईं। कम-से-कम उनमें से दो ने टी.पी.ए. पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए एक आंतरिक दल तैयार कर लिया था। जब दावों के औसत ने उन्हें तकलीफ देनी शुरू कर दी, तब वे जाग्रीं। एक सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनी, जिसका स्वामित्व केंद्रीय सरकार के पास था, वह राज्य सरकार को न्यायालय तक ले गई और उसके द्वारा की गई सभी प्रक्रियाएँ रुकी हुई थीं। कंपनी तो मुकदमा हार गई, परंतु वास्तविक नुकसान लाभार्थियों का ही हुआ; क्योंकि वे एक साल से अधिक की योजना के अंतर्गत लाभ से वंचित रहे।

बहुत सी बीमा कंपनियों ने बिना किसी जमीनी तैयारी के ही इसकी नीलामी प्रक्रिया में भाग लिया था। अति तकनीकी योजना के बावजूद इस योजना के तकनीकी अर्थभेद या निर्णय लेने की प्रक्रिया को समझे बिना ही इसमें तकनीकी दल शामिल नहीं किए गए थे। टी.पी.ए. के जिम्मे काफी अधिक कार्य छोड़ दिए गए थे, जबकि उसे स्वयं ही पहले इस योजना का अनुभव नहीं था। इसकी शुरुआत वाकई अव्यवस्थित थी, फिर भी दो बीमा कंपनियों ने रास्ता दिखाया। वे इसमें समय, धन और प्रयास लगाने के लिए तैयार हो गई थीं; क्योंकि उन्हें इस अवसर में चुनौती नजर आ रही थी। इसमें कई तरह की समस्याएँ थीं, जैसे—इसकी जटिल संकल्पनात्मक रूपरेखा को समझना, इसके लिए हार्डवेयर की व्यवस्था, विषम परिस्थितियों में मानव संसाधन का इस्तेमाल, कुछ राज्यों की दुराग्रही नौकरशाही का सामना से लेकर कुछ तकनीकी मुद्दे भी शामिल थे। फिर भी आई.सी.आई.सी.आई. लोमबर्ड के विजय ठाकुर जैसे लोग (जो कि बाद में किसी अन्य कंपनी में चले गए और वहाँ भी उन्होंने बेहतर काम किया), जिन्होंने साहस नहीं छोड़ा था। उनका सहयोग आई.सी.आई.सी.आई. लोमबर्ड के प्रबंध निदेशक भार्गव दासगुप्ता जैसे कल्पना-दृष्टिवाले व्यक्ति ने पूरे दिल से किया था। अपोलो म्यूनिख जैसी नई कंपनी के प्रबंध निदेशक एंटोनी जैकब की भी भूमिका इस प्रयोग को अपनाने की थी। वे वाकई एक अलग तरह के व्यक्ति थे। चोलामंडलम के

चंद्रकांत मिश्रा का मानना था कि 'भविष्य पिरामिड की तलहटी' में ही है। रॉयल सुंदरम की मोनिका पुशा ने भी खास तरह के मापांकों के साथ केंद्रीय दल का सहयोग किया था। इफको-टोकियो के शलभ सिंघल ने स्पष्ट रूप से दर्शाया था कि कठोर परिश्रम से नई कंपनी भी बेहतर काम कर सकती है। ओरिएंटल इश्योरेंस के आर.एस. मदान और उषा सोलंकी ने यह साबित कर दिया था कि सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों में अच्छा काम हो सकता है, हालाँकि इसमें उतने अधिक लाभ नहीं थे। लगभग इसी तरह की स्थिति पश्चिम बंगाल में नेशनल इश्योरेंस कॉरपोरेशन की देवजानी नाथ के साथ और केरल में यूनाइटेड इंडिया की उषा गिरीश के साथ था, जिन्होंने इस योजना के अनुकूल वातावरण बनाने में सहायता की थी। ऐसे ही और भी अधिकारी थे, जिन्होंने अपनी अटल प्रतिबद्धता का प्रदर्शन किया था। आर.एस.बी.वाई. हमेशा ही संजय पांडे और सुरभि चावला की ऋणी रहेगी, जिन्होंने इस योजना के शुरुआती वर्षों में इसके लिए अति उपयोगी सहयोग प्रदान किए थे।

काफी समय से बहुत से संस्थान औपचारिक एवं अनौपचारिक उद्देश्यों के लिए बीमा कंपनियों से जुड़े भी रहे हैं। इस योजना के विकास में नानो के अधिकारियों ने राष्ट्रीय स्तर पर इसे एक प्रभावशाली आयाम दिया है। हर महीने होनेवाली बैठकों में खुली बहस और सार्थक संवाद से भी इसे लाभ पहुँचा था। संस्थान की ही तरह नानो का भी विकास हुआ। हर महीने होनेवाली इसकी बैठकों से आपस में एक-दूसरे को बहुत कुछ सीखने का भी मौका मिला। बीमा कंपनियों के अध्यक्ष और प्रबंध निदेशकों के साथ होनेवाली त्रैमासिक बैठकों से पॉलिसी स्तर पर सुधार का भी उद्देश्य पूरा हुआ था। इस तरह के संवादों ने नानो के संस्थान को सुदृढ़ता प्रदान की थी।

अस्पताल : निवेशकों के लिए एक बड़ा अवसर

देश के इतिहास में यह पहली बार हुआ था कि सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों के अस्पताल बीमा क्षेत्र में शामिल किए गए थे। किंतु सार्वजनिक क्षेत्र के अस्पतालों ने इसके लिए समय लिया था। इस योजना की जटिलता और आवश्यक प्रतिबद्धता वाकई अभूतपूर्व थी। इसकी तकनीक के लिए अधिकारियों को चिह्नित और प्रशिक्षित किया गया था। राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर.एस.बी.वाई.) के अंतर्गत व्यावसायिक कार्य हेतु सॉफ्टवेयर व हार्डवेयर की खरीद और उन्हें लगाना एक बड़ी चुनौती थी। हालाँकि इसका सबसे विलक्षण और जटिल हिस्सा बीमा कंपनियों के द्वारा प्राप्त धन की रसीद को समझना था। पूर्व में अपनाई गई सरकारी पद्धतियों के कारण उन्हें एक सोसाइटी के रूप में स्वतंत्र रूप से वित्त प्रबंध का अनुभव नहीं था। एन.आर.एच.एम. के तहत 'रोगी कल्याण समिति' की संस्था को सँभालना आसान था। हालाँकि कर्मचारियों की कमी और कुछ मामलों में सार्वजनिक अस्पतालों की भारी भीड़ ने भी समस्याएँ उत्पन्न की थीं।

निजी क्षेत्र के अस्पतालों की अलग तरह की समस्याएँ थीं। बहुत बड़े 'पाँच सितारा' अस्पतालों को निर्धनों की सेवा करने के लिए इसकी दर बहुत ही कम लगती थी। वे अन्य व्यापारों की तरह इसमें व्यावसायिक रूप से धन कमाते हुए फल-फूल रहे थे और आर.एस.बी.वाई. के तहत इसमें उन्हें किसी व्यापारिक अवसर ने आकर्षित नहीं किया था। मझोले और छोटे अस्पतालों ने इस योजना को सराहा; परंतु इसकी तकनीक को अपनाना भी काफी चुनौतीपूर्ण था। वैसे अधिकतर इस योजना में व्यावसायिक अवसर को नहीं सराह सके थे, क्योंकि इसमें शुरुआत में हार्डवेयर व सॉफ्टवेयर का निवेश था।

बहुत से राज्यों के पास निजी अस्पतालों का नेटवर्क भी नहीं था। आर.एस.बी.वाई. ने लाभार्थियों को देश में मौजूद किसी भी नेटवर्क वाले अस्पताल के इस्तेमाल की अनुमति दे रखी थी। वैसे यह आशा की गई थी कि आर.एस.बी.वाई. दूर-दराज के क्षेत्रों में निजी अस्पतालों की स्थापना में रुचि लेगी और प्रत्येक व्यक्ति को राहत देते हुए दूर-दराज के क्षेत्रों में निजी अस्पतालों में अपना कार्य शुरू भी किया।

इसके साथ ही लाभार्थियों को स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने के लिए आर.एस.बी.वाई. ने कर्मचारी राज्य बीमा निगम (ई.एस.आई.सी.) का भी प्रावधान रखा था। हालाँकि ई.एस.आई.सी. का बीमित लोगों के साथ एकाधिपत्य था, परंतु आर.एस.बी.वाई. के तहत इसे ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के अस्पतालों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी थी। वैसे ई.एस.आई.सी. के पास सुविधाओं, जैसे—चिकित्सक, ढाँचा और दृष्टिकोण का अभाव था।

यह भी सुनिश्चित था कि सभी निवेशक सहमत थे और जब आर.एस.बी.वाई. उनमें से कुछ के लिए अप्रत्याशित थी, तब उन्होंने इस योजना को अपनाने के लिए थोड़ा समय और काफी प्रयास लिया। हालाँकि इसके बाद इन योजनाओं ने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

आर.एस.बी.वाई. का विपणन : केंद्रीय सरकार के सामने बड़ी चुनौती

राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर.एस.बी.वाई.) भारत सरकार के द्वारा अपनाई गई अति महत्वाकांक्षी स्वास्थ्य बीमा योजनाओं में से एक थी। वैसे अच्छी रूपरेखा वाली योजना और सर्व स्वीकृति योजना में अंतर होता है। ऐसा लगता था कि विपणन के बेहतरीन प्रयासों की आवश्यकता ने इस योजना को एक जटिलता प्रदान की थी, क्योंकि इसमें एक बड़ी संख्या वाले निवेशकर्ता भी शामिल थे। इसकी सूची में केंद्र और राज्य की सरकारी संस्थाएँ, बीमा कंपनियाँ, स्मार्ट कार्ड प्रदाता, स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करनेवाले, मध्यस्थ एवं लाभार्थी शामिल हैं।

वैसे आर.एस.बी.वाई. की रचना बीमा कंपनी ने नहीं, बल्कि केंद्र सरकार ने की थी। इसलिए इस उत्पाद के विपणन की प्रारंभिक जिम्मेदारी केंद्र सरकार के अधिकारियों की थी। ऐसा लगता था कि यदि इस योजना के विभिन्न निवेशकों के लिए इसमें प्रोत्साहन व्यवस्था होगी, तब इसका विपणन कम कठिनाई वाला होगा। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह योजना एक 'व्यावसायिक नमूने' के रूप में तैयार की गई, जिसमें निवेशकों के लिए व्यापारिक प्रोत्साहन की भी व्यवस्था थी।

बीमा कंपनियों को अधिक-से-अधिक कार्ड जारी करने पर प्रोत्साहन दिया गया था, क्योंकि उनका भुगतान लाभार्थियों की होनेवाली संख्या पर ही आधारित था। यही पहलेवाले दृष्टिकोण में अंतर था, जहाँ बीमा कंपनी को अग्रिम भुगतान दिया जाता था और पूरा लक्षित समूह एक ही बार में बीमित किया जाता था। आर.एस.बी.वाई. के तहत अस्पतालों को भी मरीजों को लेने के लिए प्रोत्साहन दिया गया था, क्योंकि इनका भुगतान सुनिश्चित था। इस प्रकार, निर्धन-से-निर्धन पर ध्यान देना अस्पतालों के लिए भी एक व्यावसायिक साधन बन चुका था। वे पिरामिड के तले दबे हुए भविष्य को बाहर निकाल रहे थे। यहाँ तक कि स्मार्ट कार्ड प्रदाताओं के लिए भी दीर्घकालीन बड़े स्तर का व्यावसायिक अवसर उपलब्ध था।

इस योजना ने राज्य सरकारों को एक बेहतर रूपरेखा वाले उत्पाद को शुरू करने का अवसर प्रदान किया था, जिसके लिए उन्हें किसी परेशानी वाली योजना को अपनाए बिना ही लागत का सिर्फ 25 प्रतिशत खर्च करना पड़ता था। राज्यों ने इस योजना के साथ एक तरह के राजनीतिक बोध का भी अनुभव किया था। वाकई कुछ राज्यों को इस योजना ने इतना अधिक आकर्षित किया था कि वे इसे केंद्रीय सरकार के द्वारा वित्त-पोषित कामगारों से आगे भी ले गए।

बेहतरीन व्यावसायिक अवसर होने के बावजूद इस योजना के कुछ प्रमुख खिलाड़ियों में सरकारी योजनाओं के प्रति नकारात्मकता का भाव था। इस योजना की जटिलता, समय एवं वित्त की शर्तों में प्रतिबद्धता और पूर्व धारणा कि सामाजिक क्षेत्र सरकार के विशिष्ट अधिकार-क्षेत्र में आता है, जैसी चीजों के कारण आर.एस.बी.वाई. योजना को अपनाने में एक बड़ी हिचकिचाहट थी; जबकि यह सार्वजनिक-निजी साझेदारी को बढ़ावा देती है। इन्हीं स्थितियों ने इसके व्यावसायिक अभियान को जनादेश दिया था।

शुरुआत में इस योजना को पूर्व निर्धारित रणनीति के तहत उतारा गया था। सभी स्तरों पर सभी निवेशकों को शामिल करने के प्रयास किए गए थे। योजना की रूपरेखा से लेकर इसके लागू होने तक निवेशकों से परामर्श और स्वीकृति ली गई थी।

पॉलिसी को रूप देते समय राज्य सरकारों के साथ वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग की गई थी और इसके दस्तावेजों की जानकारी भी दी गई थी। इस संदर्भ में उच्च अधिकारियों के द्वारा किए गए प्रयासों ने केंद्रीय सरकार की अटल प्रतिबद्धता का परिचय दिया था। बीमा कंपनियों के साथ वार्ताओं की शृंखला भी चली थी। इन वार्ताओं के दौरान बहुत से विषय भी सामने रखे गए थे। इन प्रयासों के कारण निवेशकों में सभी तो नहीं, पर कुछ में स्वामित्व का बोध उत्पन्न हुआ था।

एक बार जब पॉलिसी की घोषणा हो गई, तब केंद्रीय सरकार के वरिष्ठ अधिकारी 20 राज्यों में इसके विपणन के लिए गए। इसने राज्यों से विशेष जानकारी और प्रस्तावित दृष्टिकोण के विरुद्ध विचारों को प्राप्त करने में मदद करने के साथ बहुत सी भ्रामक आशंकाओं को बढ़ानेवाले पहलुओं के स्पष्टीकरण का भी अवसर प्रदान किया। राज्यों के लिए तकनीकी सहायता और व्यापक स्तर पर कार्यशालाओं के रूप में भी केंद्र सरकार सहायक थी। निविदा और अनुबंध दस्तावेजों के माध्यम से इस योजना को लागू करने को बढ़ावा दिया गया। राज्यों को सहायता

देने के लिए केंद्रीय स्तर पर क्षमताएँ विकसित की गईं।

इसके अतिरिक्त विश्व बैंक, जी.आई.जेड., नेशनल इंफॉर्मेटिक्स सेंटर, मानक जाँच और गुणवत्ता पहचान-पत्र के माध्यम से भी इसकी क्षमता को बढ़ाने के लिए तकनीकी मानक दस्तावेज तैयार किए गए।

इस योजना को लागू करते समय इसकी प्रक्रिया से संबंधित दस्तावेजों को तैयार करने के लिए राज्यों का मार्गदर्शन भी किया गया। राज्यों की यह सहायता केवल योजना को लागू करते समय ही नहीं, बल्कि कार्यशालाओं के स्तर पर भी दी गई थी। ठीक इसी प्रकार राज्यों के लिए सॉफ्टवेयर और इसके प्रशिक्षण का समय भी बढ़ाया गया। निवेशकों के लिए इस योजना को लाभ के स्तर पर पेश किया गया था। निवेशक भी इस योजना के स्वामित्व के लिए आगे आए और इसका एक बड़ा अंतर नजर भी आया था। इस स्तर पर इस योजना में आशा के अनुरूप कई समस्याएँ भी आईं, पर वे 'मेरी' या 'तुम्हारी' समस्या के रूप में न देखी जाकर 'हमारी' समस्या के रूप में देखी गईं। इस प्रकार, अवसर भी इसके समाधान के रूप में सामने आए।

□

राज्यों का तैयार होना : कठिन कार्य

इस योजना के लिए राज्यों का प्रत्युत्तर उदासीनता और विरोध से भरा हुआ था। इसकी मूल वजह इसकी जटिलता थी और इसका विपणन एक बड़ी चुनौती था। कुछ राज्य इसके लिए आर्थिक सहयोग देने के लिए तैयार नहीं थे। वे केंद्र से इसके सभी खर्चों के वहन की उम्मीद रखते थे। कुछ राज्यों में पहले से ही स्वास्थ्य बीमा योजना चल रही थी और वे इस संदर्भ में केंद्र से सहयोग नहीं चाहते थे, परिणामतः यह मुद्दा राजनीतिक स्तर पर संबंधित नौकरशाहों के माध्यम से तय किया गया। हालाँकि कुछ राज्यों में विचारधारा के स्तर पर इस योजना का विरोध राजनीतिक नेतृत्व ने ही किया था। किंतु नौकरशाही इस योजना को लागू करने में अति इच्छुक थी। कुछ राज्यों ने इस योजना को गरीबों के लिए हितकारी समझा और इस स्थिति में राजनीतिक स्तर एवं नौकरशाही दोनों का ही इसे सहयोग मिला। इस योजना की जटिलता और इसे लागू करने में होनेवाले प्रयासों ने कुछ नौकरशाहों को रोक भी रखा था; किंतु वास्तविक समस्या उन नौकरशाहों के साथ आई, जिन्हें लगता था कि वे सबकुछ पहले से ही जानते थे।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर.एस.बी.वाई.) को लागू करने में पश्चिमी भारत के रेगिस्तान वाले कुछ राज्य ही प्रथम थे। राज्य स्तर पर यहाँ होनेवाली कार्यशाला को उत्पाद नजर आ रहा था। इन चयनित जिलों के जिलाधिकारियों में अति उत्साह स्पष्ट था और यह योजना प्रतिबद्ध नौकरशाह रोली सिंह के नेतृत्व में शुरू होने जा रही थी। कुछ एक छोटी रुकावटों के बाद स्मार्ट कार्ड का काम शुरू हो गया। वैसे परेशानी शुरू होने तक बीमा कंपनी एक लाख से अधिक स्मार्ट कार्ड जारी कर चुकी थी। स्मार्ट कार्ड के विचार से पहले ही साल राज्य सरकार आकर्षित थी और इसमें क्षमता भी थी। इसके बाद उन्होंने इस योजना को अपने नियंत्रण में लेना शुरू कर दिया। वे अपनी तथाकथित बहुप्रायोजित योजना के साथ आए थे और आर.एस.बी.वाई. को उसमें शामिल करना चाहते थे। राज्य और उसकी नौकरशाही दोनों ने ही इस पर विस्तार से ध्यान नहीं दिया। चुनावी वर्ष में कुछ भी करने के दबाव में नौकरशाहों ने राजनीतिक मालिकों से सबकुछ देने का वायदा कर दिया, जिसके कारण आर.एस.बी.वाई. के चल रहे कार्यों में अनेक बाधाएँ भी उत्पन्न हुईं। राज्य सरकार ने 'भामाशाह' नाम से एक योजना शुरू की और स्मार्ट कार्ड का इस्तेमाल करते हुए गरीबी रेखा से नीचे वाले प्रत्येक परिवार के लिए 1,500 रुपए का अनुदान दिया। हालाँकि आर.एस.बी.वाई. को लेकर केंद्र व राज्य के बीच विवाद भी हुआ और बहस बढ़ने पर आर.एस.बी.वाई. के तहत स्मार्ट कार्ड के जारी होने पर राज्य द्वारा रोक लगा दी गई थी। इस संदर्भ में किसी अन्य तकनीक या भामाशाह योजना के संचालन में आवश्यक प्रारंभिक कार्य नहीं किए गए थे। राज्य का सत्ताधारी दल चुनाव हार गया और 'भामाशाह' योजना का वही हथ्र हुआ, जो कि आर.एस.बी.वाई. का हुआ था तथा इसे बिना श्रेय वाली योजना के साथ शामिल कर लिया गया। हालाँकि राज्य सरकार की दुराग्रही नौकरशाही और राजनीतिज्ञों की अदूरदर्शिता का सबसे अधिक नुकसान राज्य की गरीब जनता का हुआ, जिसे स्वास्थ्य बीमा का लाभ न मिल सका। इस योजना को पुनः शुरू करने में तीन साल से अधिक का समय लगा।

बहुत से ऐसे भी राज्य थे, जहाँ सिर्फ एक ही उद्योग फल-फूल रहा था और वह था 'तबादला उद्योग'। राज्य में ऐसे प्रमुख लोगों के स्थानांतरण से नुकसान आर.एस.बी.वाई. को हुआ, जो कि इस योजना के लिए अति उपयुक्त थे। वैसे, इस मामले में बहुत ही कम काम हो सका था, पर यह एक बड़ी चुनौती थी। वे एक चकई की तरह काम कर रहे थे। जब राज्य में योजना के प्रभारी प्रतिबद्ध थे, तब यह अच्छा काम कर रही थी और जब योजना के नौकरशाह उदासीन थे, तब यह लड़खड़ा रही थी। इन राज्यों के कुछ जिलाधिकारी सामंतवादी मानसिकता के थे। उन्होंने इस योजना को अन्य सरकारी योजनाओं की तरह ही लिया और बिना प्रोत्साहन एवं देखभाल के इसका नुकसान हुआ। जब इस योजना ने कार्य शुरू किया, तब कुछ लोगों को लगा कि यह योजना भी फायदेमंद हो सकती है। इस योजना को ग्रामीण विकास विभाग से स्वास्थ्य विभाग में स्थानांतरित करने का निर्णय लिया गया। हालाँकि नए विभाग में इसके स्थानांतरण को लेकर संदेह बना हुआ था।

दूसरे राज्य में कमियों को समझना कठिन था, क्योंकि वहाँ सभी कुछ गलत था तथा नौकरशाही उदासीन थी, किंतु बाद में न्यायालय सक्रिय हुए। जब न्यायालय नरम पड़ा तब एक नौकरशाह प्रतिकूल हो गए थे। उस समय प्रशासन अपनी बुरी स्थिति में था और एक अकेला व्यक्ति भी सारी प्रक्रिया में रुकावट बन सकता था। इस योजना को राज्य के अधिक इच्छुक और भलीभाँति सुसज्जित विभाग को सौंपने के बार-बार अनुरोध की अनदेखी की गई

थी। निर्णय लेनेवाले इस वास्तविकता को भुला चुके थे कि सारे देश में यह योजना फल-फूल रही थी और अपने हजारों ग्राहकों को सहायता पहुँचा रही थी। कुछ ऐसे भी लोग थे, जो अपने स्वयं के युद्ध-क्षेत्रों को तैयार करने में व्यस्त थे, जबकि निर्धन तकलीफ में थे।

बहुत से राज्यों में कुछ सरकारों की सोच अलग ही थी। बहुत से नौकरशाहों को लगता था कि वामपंथी हमेशा ही सही थे। इसलिए वे कहीं और से आई किसी चीज में समस्या तलाश रहे थे। परिणामतः आर.एस.बी.वाई. का निर्धन से निर्धनतम व्यक्ति के लिए फायदेमंद होने के बावजूद इन राज्यों में इस योजना के लागू होने में काफी समय लगा। इस स्थिति ने प्रक्रिया को और भी उलझा दिया था। यहाँ यह भी स्पष्ट नहीं था कि इसका प्रभारी कौन होगा! स्थानीय राजनीति ने स्थिति को और भी बुरा बना दिया था। यहाँ इस योजना की स्थिति बहुत ही खराब थी। वैसे, इतनी कठिनाइयों के बावजूद इस योजना ने गति पकड़ी और वे राज्य धीरे-धीरे देश के अन्य बेहतर परिणाम देनेवाले राज्यों में सबसे ऊपर पहुँच गए। आखिरकार राज्य सरकार की कार्यकारिणी में इस योजना की उपयोगिता सिद्ध हुई।

श्री नीतीश कुमार के बिहार को बदलने के बड़े प्रयास की सराहना हो रही थी। हालाँकि नौकरशाही के कुछ हिस्से को अभी भी सामंतवादी अतीत से बाहर आना था। दुरुह भू-भाग, संस्थानों की कमी और नौकरशाही के आक्रामक समूह ने इस योजना के संचालन में काफी परेशानी पैदा की थी। अक्सर ही यह समूह समाधान के बजाय गलतियाँ ढूँढ़ने में व्यस्त रहता था। किसी के पास भी इस जटिल योजना के बेहतरीन विवरण को पढ़ने का समय नहीं था और इस स्थिति ने कई बार इसे भ्रम एवं कटुता की तरफ ढकेला था। कुछ निवेशक वरिष्ठ नौकरशाहों से भयभीत रहते थे, क्योंकि वे केवल बहस को हतोत्साहित करते थे। यह योजना विकसित हुई और ऐसी बहसों को बढ़ावा मिला; परंतु बिहार में स्थिति अलग थी। परिणामतः योजना पर बुरा असर पड़ा। बहुत से मामलों में पंजीयन के बाद भी कार्डों का वितरण न हो सका। इन समस्याओं के आकलन के लिए भी बहुत कम प्रयास हुए।

इस योजना को अस्पताल और पंजीयन के मामले में बेहतरीन ढंग से लागू करनेवाले राज्यों में केरल की स्थिति काफी अच्छी थी। हालाँकि केंद्रीय योजना अपने प्रस्तुत रूप में रुचिकर नहीं थी। शुरुआत में वामपंथी सरकार असमंजस की स्थिति में थी और इस योजना पर किसी भी रूप में अपनी मुहर चाहती थी। इस योजना ने प्रतिस्पर्धा को भी बढ़ावा दिया। यह राज्य सरकार के लिए एक अभिशाप थी। राज्य सरकार की अपनी विचारधारा को अनुकूल परिवर्तन के परामर्श ने पूरी योजना को पटरी से उतार दिया था। उस समय के मुख्यमंत्री के साथ हुई वार्ता से भी कुछ लाभ नहीं हुआ; क्योंकि जब इस योजना के अर्थभेद को उन्हें बताया जा रहा था, तब वे ऊँघते रहे। अंततः इस मुद्दे पर चर्चा योजना आयोग के सदस्य डॉ. बी. मुंगेकर, वित्त राज्य मंत्री एवं राज्य योजना बोर्ड के अध्यक्ष के साथ बैठक में ही हुई थी। यहाँ तक कि यह वार्ता भी बाधा-विहीन नहीं थी और लगता था कि सारा प्रयास निष्फल रहा। केंद्रीय श्रम सचिव, जो कि समान स्तर की ही नौकरशाह थीं, इस बैठक को छोड़कर चली गईं थीं। जब वे छोड़कर चली गईं, तब राज्यों के प्रतिनिधियों को बताया गया कि या तो वे इस योजना को पहले की ही तरह स्वीकार कर लें या फिर इसे मिलनेवाले सहयोग को भूल जाएँ। उन्हें स्पष्ट रूप से इस योजना के राज्य में न लागू होने से संभावित नुकसान के बारे में भी सूचित कर दिया गया था।

यह भी एक रहस्य है कि किस तरह राज्य वित्त मंत्रालय न केवल इस प्रस्ताव पर ही राजी हुआ, बल्कि इस योजना को गरीबी रेखा के ऊपर के लोगों तक बढ़ाने पर भी उसने ध्यान दिया था।

इसके बाद राज्य इस योजना पर इतना मोहित हुआ कि उसने इसे न केवल सभी जिलों तक बढ़ाया, बल्कि इसे उन परिवारों तक भी ले जाने का निर्णय लिया, जिन्हें केंद्रीय सरकार ने गरीबी रेखा से नीचे नहीं माना था। जबकि इसका 75 प्रतिशत प्रीमियम चिह्नित किए गए गरीबी रेखा से नीचे के लोगों के लिए केंद्र सरकार से आया था और राज्य सरकार भी ऐसे लोगों के भुगतान के लिए तैयार हो गई थी, जिन्हें केंद्र सरकार द्वारा आर्थिक सहायता नहीं मिली थी। राज्य में इस योजना के बेहतर ढंग से लागू होने की वजह यहाँ की सक्रिय नौकरशाही थी, जिसका नेतृत्व राज्य श्रम सचिव विश्वनाथन और राज्य नोडल एजेंसी के मुखिया पी. सुकुमार ने किया। राज्य श्रम मंत्री ने प्रोटोकॉल की परवाह न करते हुए होटल के नीचे आकर केंद्रीय श्रम सचिव से मुलाकात कर उस अवरोध को दूर किया, जिससे इस योजना के पटरी से उतरने का भय था। उनके सौहार्दपूर्ण व्यवहार और समस्या का समाधान तलाशने की चाहत ने राज्य में इस योजना की नींव तैयार करने का बड़ा काम किया था। यद्यपि इस योजना का प्रबंधन राज्य श्रम विभाग कर रहा था, मगर स्वास्थ्य विभाग ने भी इसमें पूर्ण सहयोग दिया था और इसका नेतृत्व स्वास्थ्य विभाग के एक प्रतिभाशाली युवा आई.ए.एस. अधिकारी दिनेश अरोड़ा ने किया था। इस प्रकार, इस योजना के अंतर्गत सभी सरकारी अस्पतालों को सूचीबद्ध किया गया और प्रत्येक जिला अस्पताल में एक प्रबंध स्नातक को

जन-संपर्क अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया। देश का यह पहला राज्य था, जिसमें पहले साल 10 लाख परिवारों का पंजीयन हुआ और हजारों लाभार्थियों ने नकद-रहित अस्पतालीय सेवाओं का लाभ उठाया। इस योजना का राज्य में एक बड़ा असर हुआ और यह अभी भी जारी है।

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली में नौकरशाही निष्ठुर उदासीनता का प्रतीक बन चुकी थी। राज्य के अधिकारी आर.एस.बी.वाई. को किसी अन्य सरकारी योजना की ही तरह देखते थे और वैसी ही उसकी उम्मीद भी करते थे। तत्कालीन राज्य श्रम सचिव राज्य स्तर की कार्यशाला में उद्घाटन सत्र में ही उपस्थित रहते थे और जैसे ही सत्र समाप्त होता था, मंत्रीजी के साथ ही शाही तरीके से प्रस्थान कर जाते थे। यहाँ प्रतिबद्धता का अभाव स्पष्ट नजर आता था और प्रथम वर्ष इस योजना की शुरुआत भी न हो सकी। इस योजना को अतिसामंजस्य की आवश्यकता थी, पर यह उन लोगों के दिमाग में नहीं था, जो कि राज्य में इसका प्रबंधन कर रहे थे। इसके प्रबंधन राष्ट्रीय अखबारों में योजना के प्रचार में ही व्यस्त थे, जिनमें अंग्रेजी के भी अखबार थे। जबकि धरातल पर बहुत कुछ नहीं हुआ था। यह योजना राज्य में शुरू होने से पहले ही ढह चुकी थी। यद्यपि देश के अन्य हिस्सों से इस योजना को प्रशंसा मिल रही थी, पर यह केंद्र सरकार की नाक के नीचे मुरझा गई थी। भारत में आए सभी अंतरराष्ट्रीय समूह अन्य राज्यों में इस योजना के कार्यों को देखने जा चुके थे। वैसे यह शर्म की बात थी, पर किसी के भी ऊपर असर नहीं पड़ा।

इस योजना की क्षमता को महसूस न कर पाने का कर्नाटक एक उत्कृष्ट उदाहरण रहा है। वैसे इस राज्य का नाम सूचना प्रौद्योगिकी के प्रोत्साहन में रहा है। हालाँकि कुछ नौकरशाहों के हाथों में पड़कर यह पंगु बन चुका था। यहाँ 'हासिल' का एहसास था, इसलिए कुछ सीखने के लिए नया नहीं था। चूँकि आर.एस.बी.वाई. सूचना प्रौद्योगिकी के उपकरणों पर ही आधारित था और वाकई कोई भी बाहरी कर्नाटक को इन उपकरणों का इस्तेमाल करना नहीं सिखा सकता था, परिणामतः कुछ भी न हो सका। राज्य के स्वास्थ्य विभाग में अडियल नौकरशाहों के कारण, जो कि सुनने के लिए तैयार नहीं थे, स्थिति और भी खराब हो गई। आखिरकार, योजना से संबंधित काम करनेवाले वहाँ से चले गए और इसकी कीमत एक प्रगतिशील राज्य को एक साल की देनी पड़ी।

उत्तर-पूर्वी राज्य भी सुस्त थे। वहाँ की उदासीन नौकरशाही और उसका तटस्थ भाव दुःखद था। उन राज्यों में से एक के मुख्य सचिव योजना को लेकर आतंकित थे और लंबी दूरी की यात्रा करने में उन्होंने अपनी असमर्थता जताई। दूसरे राज्य में नौकरशाही ने हमेशा सकारात्मक भाव प्रदर्शित किया, पर किया कुछ भी नहीं। इन राज्यों में से एक के नौकरशाह को दिल्ली की यात्रा का ही शौक था। आर.एस.बी.वाई. से संबंधित चर्चाएँ एक सुविधाजनक मंच बन चुकी थीं, मगर उन्होंने इन पर चर्चाओं के बाद भी कुछ नहीं किया। यहाँ नौकरशाही पलायनवादी, कपटी और उदासीन थी। केंद्र से मिलनेवाली विपुल आर्थिक सहायता के बाद भी इस क्षेत्र के पिछड़ेपन की उनके पास पर्याप्त विवेचना थी। हालाँकि नागालैंड की स्थिति अलग थी। उत्तर-पूर्व के राज्यों में यह पहला राज्य था, जहाँ योजना शुरू हुई और इसकी सफलता का श्रेय एक युवा कनिष्ठ अधिकारी यांगेर के अथक परिश्रम को जाता है। उसने अकले ही नागालैंड में इस योजना को सफलता दिलाई। साथ ही वह अन्य राज्यों के लिए एक उदाहरण भी बन गया था। बाद में त्रिपुरा जैसे राज्य ने भी इस योजना के महत्त्व को समझा।

हरियाणा, जो कि कांग्रेस-शासित राज्य था और यह भी उन शुरुआती राज्यों में से था, जिन्होंने इस योजना को लागू करने की शुरुआत की थी। जैसा कि आशा थी, यहाँ भी शुरुआती कठिनाइयाँ आईं, पर राज्य के अधिकारियों ने हार नहीं मानी थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से साबित किया कि यह योजना सफल हो सकती थी। यह काम वाकई कठिन था। यह योजना जटिल थी और इसे दृढ़ नौकरशाही की प्रतिबद्धता एवं राजनीतिक सहयोग की आवश्यकता थी। हरियाणा में यह योजना लागू हुई, क्योंकि राज्य ने इसे अपनाया और इसकी कीमत समझी। परिणामतः 6 लाख स्मार्ट कार्ड पहले साल ही वितरित हुए। जमीनी स्तर पर इस योजना के प्रति उत्साह नजर आ रहा था। डॉ. साहरन, जो कि ई.एस.आई. के निदेशक होने के साथ इस योजना के प्रभारी भी थे और एक युवा के रूप में उनके नेतृत्व ने इस योजना पर काम किया था, जबकि उन्हें सेवानिवृत्त होने में मात्र दो वर्ष ही बचे थे। इस योजना में बहुत से निवेशकों का सामंजस्य शामिल था, जो कि वार्तालाप, चर्चा, सहभागिता और सकारात्मक दृष्टिकोण के रूप में नजर आ रहा था। बिल गेट्स की टीम भी यहाँ आई और यहाँ का पंजीयन देखकर बहुत प्रभावित हुई। पंजीयन और अस्पतालों की स्थिति को लेकर इस राज्य ने अन्य राज्यों के सामने एक मिसाल पेश की थी। पहले साल में प्रथम जिले में उपयोगिता दर 80 प्रतिशत से अधिक थी, हालाँकि इस संदर्भ में दूसरे से भी कुछ आशय था।

हरियाणा में जो कुछ भी हुआ, उससे बहुत कुछ सीखा जाना चाहिए था। इस राज्य ने स्वास्थ्य बीमा योजना के

जटिल तकनीकी क्षेत्र में उतरने का साहस दिखाया और उसमें सफलता हासिल की थी। इसके अलावा, इसने शुरुआती अनिच्छुक अन्य राज्यों को भी दिखा दिया था कि आर.एस.बी.वाई. सफलता हासिल कर सकती थी, परंतु इसके लिए कठोर परिश्रम और लगन की जरूरत थी। गुजरात में भाजपा का शासन था, पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। उन्होंने भी जब इस योजना के अर्थभेद को समझा, तब इसकी कीमत समझी।

यहाँ योजना देर से शुरू होने के बावजूद पहले ही साल तकरीबन 7 लाख स्मार्ट काइर्स जारी हुए। राज्य की नौकरशाही का दृष्टिकोण पेशेवर था और जब एक बार सरकार ने निर्णय ले लिया, तब उसने काम शुरू कर दिया। राज्य के स्वास्थ्य आयुक्त डॉ. अमरजीत सिंह के उत्कृष्ट नेतृत्व और बेहतर परिणाम प्रदान करनेवाले नौकरशाह विजेंद्र काटरे के सहयोग से इस योजना को सफलता मिली और इसके लिए नए तरीकों का भी इस्तेमाल हुआ। शीघ्र ही गुजरात अन्य राज्यों के सामने एक ऐसा उदाहरण बन गया, जिसमें उनके दल ने वहाँ जाकर जो कुछ भी हो रहा था, उनसे सीखा। इस योजना की उपयोगिता को महसूस करते हुए राज्य सरकार ने इसे पहले साल ही अन्य जिलों में लागू कर दिया।

चूँकि भारत में सरकारें बदलती रहीं, इसलिए यह स्पष्ट नहीं था कि वहाँ किसकी सरकार चल रही थी। इसलिए योजनाओं के लागू होने के संदर्भ में राज्य की क्षमता की जानकारी न हो सकी। यह भू-भाग भी दुरूह था। यहाँ के कई जिले वामपंथी अतिवाद से प्रभावित थे। हालाँकि ये सभी वजहें नौकरशाहों की टीम को इस राज्य में आर.एस.बी.वाई. को लागू करने से रोक न सकीं तथा इसे यहाँ सफलता मिली और इसने न केवल पूर्वी राज्यों, बल्कि सारे देश के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया था। यहाँ की शुरुआती कठिनाइयों का सामना सुशील चौधरी के द्वारा किया गया था। अति-प्रभावशाली नौकरशाह आराधना पटनायक ने इस चुनौती को स्वीकार किया था। सभी तरह की परेशानियों का सामना करते हुए उन्होंने इस योजना को यहाँ सफल बनाया। इस स्थिति ने यह भी दिखाया कि इच्छित प्रतिबद्धता से सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की जा सकती थी।

वहाँ और भी कई तरह की समस्याएँ थीं और उनका संबंध राज्यों के नौकरशाहों के स्वभाव पर निर्भर था, जो कि अपने विभागों के मुखिया भी थे और राजनेता भी इसके जिम्मेदार थे, जिन्हें वे विवरण प्रस्तुत करते थे। हालाँकि राज्यों के साथ उनकी अतिसंलिप्तता ने बहुत से मुद्दों को दृढ़ता प्रदान की थी। वैसे, देश के दूर-दराज के क्षेत्रों की यात्राओं का अपना एक सुखद अनुभव था, खासतौर से उन राज्यों में, जहाँ व्यक्ति पहले कभी नहीं गया था। यह अपने आप में विपणन की एक बड़ी चुनौती थी। यह यात्रा कठिन होने के साथ बहुत ही आनंददायक भी थी। सबसे बेहतरीन स्थिति थी कि अधिकतर राज्यों ने इस योजना को अपनाया था।

सरकार के राजनीतिक हो-हल्ले के बावजूद देश के अधिकतर राज्यों ने इस योजना को अपने यहाँ लागू किया था। योजना के निष्पादन के लिहाज से सबसे ऊपर चार राज्यों के नाम आते हैं और वे सभी अलग-अलग राजनीतिक दलों द्वारा शासित थे। किंतु इसमें यह मायने नहीं रखता था कि वहाँ की सरकारें वामपंथ या दक्षिणपंथ या केंद्र सरकार द्वारा शासित थीं। यहाँ तक कि राजनीतिक विचारधारा ने भी इस योजना को लागू होने से नहीं रोका था। इस योजना की सफलता का सबसे प्रमुख कारण इसका अराजनीतिक होना था। विचित्रता यह है कि इस योजना ने बहुत से राजनीतिक बोध उत्पन्न किए थे। इस योजना ने काफी रुचि और देश के निर्धन से निर्धनतम व्यक्ति को पारदर्शिता के साथ लाभ पहुँचानेवाली क्षमता का भी प्रस्तुतीकरण किया था। इसके साथ ही इसने अन्य ऐसी योजनाओं के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का मंच भी प्रस्तुत किया।

कस्बे में आर.एस.बी.वाई.

राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर.एस.बी.वाई.) की शुरुआती सफलता के बाद हमने इसके प्रति लोगों की उम्मीदों की आती लहर को भी महसूस किया था। शुरू के वर्षों में मीडिया भी इस योजना के प्रति उदार था। वैसे यह भी वास्तविकता थी कि यह घोषणा तक करने का प्रयास नहीं किया गया था कि इस योजना का आभास उन्हें हो चुका है। प्रत्येक व्यक्ति को इसका अनुभव स्वयं ही करना था।

इस योजना के लाभार्थी वीरेंद्र कुमार ने तो इसे 'महान्' बताया, पर इसके लिए महान् बनना पड़ा और इसकी पद्धति पर ध्यान भी देना पड़ा था। अधिकतर सरकारी योजनाएँ अपने आरंभ होने पर, यानी नींव की शुरुआत पर प्रचार और उद्देश्य पर ही केंद्रित रहती हैं, क्योंकि इसमें उन्हें तात्कालिक प्रशंसा हासिल होती है। हालाँकि इनमें से अधिकतर असफल हो जाती हैं, क्योंकि जो लोग इसे लागू करते हैं, उनके लिए इसकी प्रक्रिया उत्साहजनक नहीं होती है। आर.एस.बी.वाई. ने एक अलग मार्ग अपनाया था। उसने इसे लॉन्च करने के लोभ पर विजय पा ली थी और इसकी वास्तविक संख्याओं पर ही लक्ष्य किया था।

सरकार में ऐसे बहुत से संगठन हैं, जो कि उत्पाद गुणवत्ता में आनुपातिक रूप से सुधार का प्रयास किए बिना ही लाखों रुपए प्रचार कार्य पर खर्च कर देते हैं; क्योंकि नौकरशाही की भाषा में 'उत्पाद गुणवत्ता' या 'सेवा गुणवत्ता' जैसे शब्द वास्तविक रूप से नहीं समझे जाते। यह प्रचार सिर्फ आत्म-मोह तक ही सीमित रहते हैं। लक्षित श्रोताओं की जरूरतों को समझने और ये खर्चीले प्रचार जिन श्रोताओं पर किए गए हैं, उन पर इसके प्रभाव को जानने का बहुत ही कम प्रयास होता है। सौभाग्य से, आर.एस.बी.वाई. तक पहुँचना बहुत ही आसान था। गुणवत्ता-युक्त सेवा और वितरण पद्धति पर ध्यान होने के कारण लाभार्थी स्वयं ही इसका प्रचार करते थे। प्रचारों की तुलना में लाभार्थियों का इस योजना के बारे में बताना अधिक असरकारक था। इसके साथ ही जो लोग इस योजना के बारे में जानकारी चाहते थे, उन तक भी सूचनाएँ पहुँचाने का प्रयास किया गया। इसमें पत्रकार भी शामिल थे और पारदर्शिता से सहायता मिली तथा यदि आलोचना भी हुई, तब भी उसे सही अर्थों में लिया गया। इसे सुधार की प्रक्रिया का आवश्यक अंग समझा गया। यह स्पष्ट था कि यह योजना अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँची थी और इसीलिए यह जाँच के लिए भी स्वतंत्र थी।

इस योजना के बारे में 'द वॉल स्ट्रीट जर्नल' में प्रकाशित लेख का उद्धरण देते हुए 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में 1 नवंबर, 2008 को गुरचरन दास ने इसे 'दीवाली का सर्वश्रेष्ठ उपहार' बताया था

धीरे-धीरे इस योजना को अन्य मीडिया के द्वारा भी पहचान मिलनी शुरू हो गई। 'द हिंदू' ने 19 नवंबर, 2008 को अपने संपादकीय में इसे जन स्वास्थ्य की दिशा में बेहतरीन कदम बताया। 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने 5 जुलाई, 2010 को इस योजना के बारे में पूरे पृष्ठ पर छापा था कि मास्टर कार्ड क्रांति ने 6 करोड़ लोगों को प्रति व्यक्ति 30 रुपए में नकद-रहित तथा कागज-रहित पद्धति से स्वास्थ्य सुरक्षा प्रदान की थी और यह दुनिया की सबसे बड़ी व्यवस्था है। बाद में 'इंडिया टुडे' ने वर्ष 2010 के अपने वार्षिकांक में लिखा था—“राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना ने असंगठित क्षेत्र के 6.5 करोड़ लोगों के जीवन को परिवर्तित किया है।” 20 मई, 2011 को 'द इकोनॉमिक टाइम्स' ने लिखा—“राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना अब उद्यमियों को ग्रामीण गरीबों के लिए अस्पताल बनाने के लिए आकर्षित कर रही है।”

बी.बी.सी. ने भी अपनी एकत्र सूचनाओं के आधार पर आर.एस.बी.वाई. के बारे में लिखा था कि “यह सरकारी प्रयास है और यह कार्य कर रही है तथा यह प्रथम व्यावसायिक कल्याणकारी योजना का विजयी नमूना प्रतीत हो रही है।”

मीडिया का रवैया उदार था। ख्याति ने काम किया। सूचनाओं की साझेदारी और जाँच के प्रोत्साहन से सहायता मिली। पारदर्शी दृष्टिकोण से योजना को लाभ हुआ। इस बारे में उत्पाद ने स्वयं ही स्वयं को व्यक्त किया। शुरुआत में योजना के विकास और सुधार की प्रक्रिया के लिए आत्मावलोकन पर ध्यान दिया गया। योजना के विज्ञापन के लिए शहरों की तरफ जाने की कोशिश नहीं की गई, मगर इसने स्वतः ही घोषणा कर दी, जबकि विज्ञापन पर एक पैसा भी खर्च नहीं किया गया।

आर.एस.बी.वाई. के पीछे की प्रेरणा : मेरे दिल की गहराई से

चयनित श्रोताओं के सम्मुख आर.एस.बी.वाई. के प्रस्तुतीकरण के लिए मैं विश्व बैंक गया था। अमेरिका की इस यात्रा के दौरान वाशिंगटन की संस्था ब्रूकिंग्स इंस्टीट्यूट ने मुझे एक अन्य श्रोताओं के समूह के सामने इस योजना के बारे में बताने के लिए आमंत्रित किया था। इस श्रोता समूह में सरकारी प्रतिनिधि, गैर-सरकारी संगठन और बिल गेट्स फाउंडेशन जैसी आर्थिक सहायता प्रदान करनेवाली एजेंसियाँ भी शामिल थीं। इस प्रस्तुतीकरण की सभी ने सराहना की और यह सहज भी था। हालाँकि अल्पाहार के दौरान एक फाउंडेशन के प्रतिनिधि का इस बारे में अनौपचारिक ढंग से बात कहना मेरी स्मृति में बना रहा। उनका सवाल काफी सरलता से भरा था, “मि. स्वरूप, आप इस योजना को लेकर इतना जुनूनी क्यों हैं? आपको इससे क्या फायदा हो रहा है?” उसका जवाब देने के लिए मैं थोड़ा रुका। वैसे, अपने प्रस्तुतीकरण में मैंने स्पष्ट कर दिया था और इस योजना के प्रति प्रतिबद्धता भी जाहिर कर दी थी, मगर वह एक नस्ली नौकरशाह से परे था। मैंने जवाब में उनसे पूछा, “आपको विकसित देशों के गरीबों की सहायता के लिए लाखों डॉलर देने से क्या हासिल होता है?” उनके उत्तर ने मुझे आश्चर्यचकित नहीं किया, “यह हमारा काम और हमारा उद्देश्य है। जिन लोगों को हमसे सहायता मिलती है, हमें उनसे दुआएँ मिलती हैं।” अब वह मेरे जवाब का इंतजार कर रहे थे। मेरा जवाब बहुत ही सरल और मेरे दिल की गहराई से आया था, “मैं आपसे बेहतर स्थिति में हूँ। मैं अपनी जेब से कुछ भी खर्च नहीं करता हूँ, फिर भी इस योजना के कारण गरीबों को मिलनेवाले लाभ से मुझे उनकी दुआएँ मिलती हैं। इससे बेहतर और क्या प्रेरणा हो सकती है!” और फिर उन्हें इस विषय को समझाने के लिए एक घटना का जिक्र किया।

लाभार्थी की दुआ : अब तक का सबसे बड़ा पुरस्कार

“बेटा, इधर आओ!” जैसे ही मैं दिल्ली के अस्पताल में घुसा, एक कमजोर आवाज ने मुझे पुकारा। मैं वहाँ एक मरीज को देखने गया था। मुड़ते ही मैंने देखा कि पास ही एक बेड पर एक बुजुर्ग महिला लेटी थी। उसने अपना हाथ हिलाकर मुझे अपने पास आने का इशारा किया। जब मैं उसके पास पहुँचा, तब मैंने देखा कि वह कमजोर और जर्जर हालत में थी। उसने उठने की कोशिश की, पर उठ न सकी। उसके चेहरे पर पीड़ा की रेखाएँ थीं, पर उसने मुसकराते हुए मेरा स्वागत किया। शायद किसी ने उसे बताया था कि मैं राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना से जुड़ा था। उसके हाथ में स्मार्ट कार्ड था और वह उसे मुझे दिखा रही थी। जब मैंने उससे उसके हाल के बारे में पूछा, तब उसने बताया कि वह तकलीफ में थी; पर उसने अस्पताल के कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता का भाव जताया, क्योंकि वे उसका बहुत ही खयाल रखते थे, जबकि गरीबी के कारण वह कुछ भी भुगतान कर पाने में असमर्थ थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि उसने स्वयं को अपने भाग्य के हवाले कर दिया था और उसका ईश्वर से मिलने का समय आ चुका था; परंतु जो कुछ भी आगे हुआ, मैं उसके लिए तैयार नहीं था। वह इस योजना से बहुत खुश थी और उसने कहा कि जब वह ईश्वर से मिलेगी, तब इसके बारे में उन्हें बताएगी और इस योजना के लिए उनसे आशीर्वाद भी माँगेगी। धीरे-धीरे उसने बैठने की ताकत बटोरी और मुझे आशीर्वाद देने के लिए अपना हाथ उठाया। वैसे तो इस योजना को बहुत से पुरस्कार मिले थे, पर यह पुरस्कार सबसे बड़ा था।

त्रुटिपूर्ण गणना : फिर भी पंजाब ने इसका स्वागत किया

उस समय के पंजाब के मुख्यमंत्री दिल्ली में थे। मुझे बताया गया कि वे आर.एस.बी.वाई. पर तुरंत ही संक्षिप्त चर्चा करना चाहते थे। मुझे कपूरथला हाउस पहुँचने में सिर्फ पंद्रह मिनट लगे।

उस समय यह योजना अपने शुरुआती स्तर पर थी और मैं किसी भी हाल में इस अवसर को खोना नहीं चाहता था। मैं हर हाल में इस योजना को लाने के लिए देश भर की यात्रा कर रहा था। इस आमंत्रण की सुनिश्चितता के बाद मैंने इसके पावर प्वाइंट प्रस्तुतीकरण के लिए एक प्रोजेक्टर की माँग की। कपूरथला हाउस पहुँचने पर मैंने देखा कि सभी चीजें उपलब्ध थीं और यह प्रस्तुतीकरण 30 मिनटों में ही पूरा हो गया। उसके दर्शकों में मुख्यमंत्री, उनके प्रधान सचिव और रेजीडेंट कमिश्नर भी शामिल थे। मुख्यमंत्री के भाव-विहीन चेहरे को देखकर यह अंदाज लगाना मुश्किल था कि उन पर इसका प्रभाव पड़ा या नहीं। वहाँ थोड़ी देर के लिए माहौल बहुत शांत था। इसके बाद उन्होंने इस योजना की प्रभावोत्पादकता संबंधित कुछ वास्तविक सवाल भी पूछे। मैंने उन्हें एक-एक करके सभी के जवाब दिए। उनके चेहरे के भाव अभी भी स्थिर थे। इसके बाद उन्होंने अंतिम सवाल पूछा, “गरीबी रेखा से नीचे की पूरी जनसंख्या को इसमें लाने के लिए कितने धन की आवश्यकता होगी?” मैंने लिफाफे के पीछे तुरंत ही हिसाब लगाया और उन्हें बताया कि इसमें लगभग 60 करोड़ रुपयों की आवश्यकता होगी। उन्होंने तुरंत ही अपने प्रधान सचिव को वित्त सचिव से फोन पर बात कराने के लिए कहा (वैसे अभी भी उनके चेहरे पर किसी तरह का भाव नहीं था)। फोन के मिलते ही उन्होंने अधिकारी को टैट पंजाबी में इस योजना के लिए 60 करोड़ रुपए जारी करने का निर्देश दिया। मैं उत्साह से भरा हुआ था, क्योंकि एक और राज्य में आर.एस.बी.वाई. को अपने पैर जमाने की जगह मिल गई थी। वापस अपने कार्यालय लौटकर मैंने अपने हिसाब को दुबारा देखा, तब मुझे लगा कि इस योजना के लिए तो मुझे सिर्फ 6 करोड़ रुपयों की ही जरूरत थी, न कि 60 करोड़।

खैर, राज्य में इस योजना ने काम शुरू कर दिया। पहले साल की कुछ शुरुआती कठिनाइयों के बावजूद इस राज्य ने स्वयं को बेहतरीन परिणाम देने वालों में शामिल कर लिया था। इस राज्य में ऐसा इसलिए संभव हुआ, क्योंकि यहाँ के मुख्यमंत्री को इस योजना द्वारा प्रदान की जानेवाली सेवाओं का अंदाज लगाने में अधिक समय नहीं लगा था। उनके लिए 60 करोड़ रुपए कोई मायने नहीं रखते थे। उन्होंने नौकरशाहों की विशेष टीम को इसे पूरा करने में लगा दिया था और यह योजना सफल भी हुई।

पहला कार्ड : हरियाणा को टिकट मिला

लोग कहते हैं कि पहला कदम बहुत कठिन होता है। आर.एस.बी.वाई. ने भी शुरू होने में थोड़ा समय लिया था। अधिकतर सरकारी योजनाएँ एक ही तरह की कठिनाइयों का सामना करती हैं और असफल हो जाती हैं, क्योंकि उनका ध्यान सामान्यतया उनके शुरू करने में ही रहता है। वे उनकी प्रभावोत्पादकता पर ध्यान नहीं देते हैं (यहाँ विषय स्मार्ट कार्ड का है)। पूर्व में सरकारी परिक्षेत्र में स्मार्ट कार्ड परियोजनाओं के असफल होने के बावजूद 2 अक्टूबर, 2007 को इसे शुरू करने के लिए एक शासनादेश जारी किया गया, किंतु आवश्यक जमीनी तैयारी नहीं की गई थी। इसलिए वहाँ जो ताकतें थीं, उन्हें बताया गया कि यह संभव नहीं था। इससे काफी असहजता तो हुई, पर इस योजना के दीर्घकालीन हित के लिए इसे बरदाश्त करना पड़ा। जिन अधिकारियों ने इस योजना को अवरुद्ध किया, उन्हें कुछ समय के लिए तकलीफ तो हुई, परंतु इस योजना को लाभ हुआ।

पहला कार्ड बिना किसी धूम-धड़ाके के ही 28 फरवरी, 2008 को हरियाणा के यमुना नगर जिले के दूर-दराज के गाँव में दिया गया था। आर.एस.बी.वाई. के तहत लाखों की संख्या में जारी किए गए कार्डों में से वह पहला कार्ड था। विचित्र बात यह है कि जो लोग अन्य सरकारी योजनाओं का संचालन कर रहे थे, वे भी दबाव में आ गए और 2 अक्टूबर, 2007 को उन्होंने भी 500 स्मार्ट कार्ड्स जारी किए थे। इस शुरुआत ने भी छायाचित्रों का एक बड़ा अवसर प्रदान किया था। हालाँकि इस योजना के अंतर्गत जारी स्मार्ट कार्ड का अंतिम सेट होने वाला था, क्योंकि इस तरह के कार्य सरकार द्वारा शुरू किए गए थे। आर.एस.बी.वाई. एक अपवाद था।

मुख्यमंत्री का दखल : आर.एस.बी.वाई. सभी जिलों में लागू हुआ

छत्तीसगढ़ में इस योजना को लागू करने में राज्य सरकार की अनिच्छा स्पष्ट थी। इस योजना को छूने के लिए भी कोई तैयार नहीं था। यह योजना उनके लिए बहुत ही जटिल थी। राज्य श्रम विभाग के प्रधान सचिव ने निर्धन लाभार्थियों के द्वारा इस 'इलेक्ट्रॉनिक जुगत' के इस्तेमाल करने की क्षमता पर सवाल उठाए थे। उनका इशारा स्मार्ट कार्ड को लेकर था। यह योजना कठोर परिश्रम माँगती थी, जबकि कुछ नौकरशाह इसके लिए अतिरिक्त घंटे और आवश्यक प्रयास भी नहीं देना चाहते थे।

जब सभी तरह से असफलता महसूस होने लगी, तब एक अंतिम कोशिश की गई। मैंने राज्य के मुख्य सचिव से मुलाकात का समय माँगा। वह बैठक रायपुर में थी और मैं वहाँ पहुँचा। मगर मुख्य सचिव ने भी इस योजना को लागू करने में वही अनिच्छा जताई और इसकी वजह इसकी जटिलता ही बताई। यह काफी उद्विग्न कर देनेवाली स्थिति थी। एक ऐसा राज्य, जिसकी गरीब जनता को आर.एस.बी.वाई. की अति आवश्यकता थी, जो कि उनकी स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों का ध्यान रख सकती थी, मगर वहाँ की नौकरशाही इसके लिए कठोर परिश्रम नहीं करना चाहती थी। हालाँकि मैंने इसे न छोड़ने का निश्चय किया था। मैंने उस समय के मुख्यमंत्री से मुलाकात का समय लिया। सौभाग्यवश, उन्होंने मेरे इस अनुरोध पर ध्यान दिया और अपने व्यस्ततम कार्यक्रम में से पाँच मिनट का समय दिया। जब मैं उनके ऑफिस में ले जाया गया, तब मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह काफी निश्चित नजर आ रहे थे और उन्होंने मुझे 5 मिनट तक सुना, जिसमें मैंने आर.एस.बी.वाई. के बारे में उन्हें सविस्तार बताया। मैंने देखा कि जब तक मैंने अपना पूरा प्रस्तुतीकरण नहीं दिया, तब तक वे एक शब्द भी नहीं बोले और उन्होंने पूरे मनोयोग से मेरी बात सुनी। मैंने उन्हें यह नहीं बताया कि राज्य की नौकरशाही इस योजना को वहाँ लागू करने में अनिच्छुक है, किंतु अपने प्रस्तुतीकरण के दौरान मैंने उन्हें बता दिया था कि केंद्र सरकार इस योजना को प्रथम वर्ष में जिलों के पाँचवें हिस्से तक बढ़ाने के लिए तैयार थी।

मेरी बात सुनने के बाद उन्होंने सिर्फ एक सवाल पूछा, "क्या पहले ही साल यह योजना सभी जिलों में लागू नहीं हो सकती?" वे पेशे से चिकित्सक थे और 5 मिनटों में ही वे आर.एस.बी.वाई. के महत्त्व को समझ चुके थे। वे 'इलेक्ट्रॉनिक जुगत' से भयभीत नहीं थे। उनके साथ बिताया गया अगला एक घंटा वाकई आश्चर्य कर देनेवाला था; क्योंकि उन्होंने तुरंत ही राज्य के वरिष्ठ अधिकारियों को बुलाया और उन्हें बताया कि वहाँ के सभी जिलों में आर.एस.बी.वाई. को लागू करना क्यों जरूरी है।

इस राज्य ने बेहतरीन कार्यक्षमता का परिचय दिया और अपने पड़ोसी राज्यों के लिए मार्गदर्शन का काम किया, जिन्होंने आगे चलकर इस योजना को अपने राज्यों में लागू किया था।

‘गृह’ बुला रहा था : मैंने ‘श्रम’ में रहने को प्राथमिकता दी

“क्या आपको पता है कि आपकी नियुक्ति अतिरिक्त सचिव, गृह के लिए की जा चुकी है?” मेरे एक सहकर्मी ने देर रात मुझसे फोन पर पूछा। इस सवाल को आत्मसात् करने में मुझे थोड़ा समय लगा। मुझे यकीन ही नहीं हुआ था। मैंने हाल ही में आर.एस.बी.वाई. के साथ काम करने के लिए विश्व बैंक का आकर्षक प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। विचित्र बात यह है कि कई क्षेत्रों में सरकार की आलोचना की जा रही थी और आर.एस.बी.वाई. उन कुछ कारणों में से एक थी, जिसने अपना सिर गर्व से ऊपर कर रखा था। किंतु इस आकस्मिकता ने मुझे भौचक्का कर दिया था। मैंने तुरंत ही मंत्रीजी और श्रम सचिव से बात की। अब तक वे दोनों भी आर.एस.बी.वाई. को पसंद करने लगे थे और इस योजना में मेरे सहयोग से भी परिचित थे। इस संबंध में बहुत पत्राचार हुए और कई स्तरों पर वार्ता भी हुई। नौकरशाही के स्तर पर कुछ शुरुआती विरोध था, पर सचिव और मंत्रीजी दोनों ने मुझे ‘गृह’ के दबाव के बावजूद मुक्त करने से मना कर दिया। आखिरकार, तीन हफ्तों के नुकसान के बाद वह आदेश निरस्त हो गया। इस घटना से पहले अपने पूरे कार्यकाल के दौरान मैंने कभी भी अपने स्थानांतरण आदेश को बदलवाने का प्रयास नहीं किया था। किंतु इस बार यह आर.एस.बी.वाई. के हित में हुआ था और मैंने ‘गृह’ में न जाने के बजाय ‘श्रम’ में रहने का विकल्प चुना था।

पाकिस्तान ने आर.एस.बी.वाई. का स्वागत किया : कश्मीर समस्या का समाधान न हो सका

विश्व बैंक के प्रयास से एक सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसका स्थान बैंकॉक था। भारत और पाकिस्तान दो अलग हो चुके जुड़वाँ भाइयों ने आपस में मुश्किल से ही बात की थी और जब उन्होंने वार्ता की, तब अकसर ही बंदूकों की नाल से ही की थी। ये दोनों ही देश अलग तरीके से विकसित हुए थे। लोकतांत्रिक परंपराओं और परिपक्व होते संस्थानों ने भारत को गर्व महसूस कराया था, जबकि इसका दूसरा भाग पाकिस्तान दो हिस्सों में बँटा और अभी भी लोकतंत्र को स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहा है और अकसर ही असफल होता है। हालाँकि स्वाभाविक रूप से जुड़वाँ होने के कारण इनमें कुछ समानताएँ भी हैं। इन दोनों ही देशों में सांस्कृतिक, भौगोलिक और निर्धनता के मामले में भी समानताएँ हैं। यहाँ वाकई गरीबी को लेकर सोच बढ़ रही थी। आर.एस.बी.वाई. भारत में चल रही थी और यह नकद-रहित पद्धति के माध्यम से गरीबों को स्वास्थ्य सेवाएँ मुहैया कराने में सहायक हो रही थी। पाकिस्तान में भी कुछ लोग इन अनुभवों से सीखने के इच्छुक थे।

पाकिस्तान की राज्य सरकारों एवं संघों के एक दर्जन से अधिक प्रतिनिधि और उनके वरिष्ठ अधिकारी भारतीय अनुभव से सीखने के लिए कार्यशाला में भाग ले रहे थे। आर.एस.बी.वाई. के प्रस्तुतीकरण के बाद वे इसी तरह के दृष्टिकोण को पाकिस्तान में अपनाने को सहमत थे। हालाँकि वहाँ के संघीय प्रतिनिधियों और राज्य सरकार के सचिवों के बीच वहाँ इसे लागू करने को लेकर वैचारिक मतभेद थे; जबकि संघीय सरकार के प्रतिनिधि इस दृष्टिकोण पर दृढ़ थे कि इस योजना को केंद्र सरकार के द्वारा आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए और इसका संचालन भी केंद्र सरकार ही करेगी। दूसरी तरफ, राज्य इस बात पर अड़े हुए थे कि चूँकि आर्थिक सहायता केंद्र से आ रही है, इसलिए इसे लागू करने की जिम्मेदारी राज्यों पर छोड़नी चाहिए। भारत की ओर से गए दल ने उन्हें यह समझाने का प्रयास किया था कि इस योजना को भारत की ही भाँति केंद्र एवं राज्य सरकार की सम्मिलित आर्थिक सहायता और संचालन से होना चाहिए। इस स्थिति से प्रत्येक स्तर पर स्वामित्व की सुनिश्चितता होगी और यह इसकी सफलता के लिए आवश्यक भी है।

यह भी काफी रोचक था कि एक भारतीय पाकिस्तान के भीतर के दृढ़ दृष्टिकोण वाले समूहों के बीच समाधान तलाशने की कोशिश कर रहा था। बिना किसी विद्वेष के यह कार्य पूरा हो गया। पाकिस्तान के दोनों दलों ने उस भारतीय के प्रति विश्वास जताया, जो कि उनके बीच मध्यस्थता कर रहा था। दूसरे दिन की समाप्ति पर यह सौजन्य इस स्तर पर पहुँच गया था कि यदि इसी समूह को कश्मीर समस्या का मुद्दा सौंप दिया जाता, तब उसका भी समाधान हो सकता था।

पुरस्कार मिला, मगर नहीं भी मिला : अनुमति नहीं मिली

फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स ऐंड इंडस्ट्री (FICCI) के महासचिव का मुझे संदेश मिला—“मुझे आपको यह सूचना देते हुए प्रसन्नता हो रही है कि आपको ‘हेल्थकेयर पर्सनैलिटी ऑफ द ईयर अवार्ड’ के लिए चयन किया गया है। फिक्की की पहचान देश के प्रमुख उद्योग संगठनों में से एक है। यह पुरस्कार मुझे आर.एस.बी.वाई. के माध्यम से किए गए मेरे वर्षों के उस काम के लिए प्रदान किया जा रहा था, जिसने असंगठित क्षेत्र के लाखों लोगों के जीवन को परिवर्तित करने का काम किया। मेरे इस सहयोग को स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने के भिन्न दृष्टिकोण का नाम दिया गया था। यह संवाद यहाँ तक पहुँचा कि यह योजना अन्य सार्वजनिक कार्यक्रमों के लिए एक मानक बनी। इसके निर्णायक मंडल के प्रमुख और कोई नहीं, बल्कि सेबी (SEBI), यू.टी.आई. और आई.डी.बी.आई. के पूर्व अध्यक्ष श्री एम. दामोदरन थे।

यह समारोह 2 सितंबर, 2013 को होना तय हुआ था। फिक्की की सूचना पर 22 अगस्त, 2013 को सरकार की तरफ से सूचना आनी आवश्यक थी। वैसे, कई ओर से होनेवाली आलोचना से सरकार परेशान थी और इस योजना को शुरू करने का श्रेय लेना चाहती थी, जिसने लाखों लोगों के जीवन को परिवर्तित किया था। हालाँकि इसने ऐसा न करने का विकल्प लिया। 2 सितंबर, यानी पुरस्कार के लिए जानेवाले दिन ही अवर सचिव का गूढ़ संदेश प्राप्त हुआ, जिसके अनुसार पुरस्कार स्वीकृति की अनुमति निजी एवं प्रशिक्षण विभाग के साथ परामर्श में विचाराधीन है। परिणामतः यह सभी के लिए एक उलझन की स्थिति थी और फिक्की को सूचित कर दिया गया था कि सरकार की तरफ से आवश्यक अनुमति न मिल पाने के कारण इस पुरस्कार को स्वीकार नहीं किया जाएगा। यह भी विचित्र बात थी कि 1,000 करोड़ रुपए या इससे भी अधिक के निवेश वाली रुकी हुई परियोजना को तीव्रता प्रदान करने की जिम्मेदारी के बावजूद मैं इस पुरस्कार को स्वीकार करने की अनुमति को तीव्रता प्रदान करने में असमर्थ था, जो कि उस समय की घिरी हुई सरकार को आवश्यक पहचान दिला सकती थी।

मानवोचित कथाएँ

वह नवयुवक

वह ठंड का समय था, पर इतना भी नहीं कि कमरे के अंदर दस्तानें पहने जाएँ। जो युवक मेरे कमरे में घुसा था, उसने अपने बाएँ हाथ में दस्ताना पहन रखा था।

अपने ऑफिस के समय से आधा घंटा पहले पहुँचने की मेरी असामान्य आदत थी और सामान्यतया इतना जल्दी कोई किसी आगंतुक की उम्मीद भी नहीं करता है। वास्तव में, मेरे इस जल्दी पहुँचने के पीछे मेरा सिर्फ एक ही मकसद होता था कि मैं बिना व्यवधान के अपनी दिन भर की योजना बना सकता था। लोक-सेवक होने और आसानी से उपलब्ध होने की अपनी समस्याएँ हैं। इसलिए नए विचारों व योजनाओं के लिए समय निकालना कठिन हो जाता है; क्योंकि सारे दिन बैठकें, फोन और आगंतुकों के कारण व्यस्तता बनी रहती है। अतः औपचारिक कार्यक्रमों की शुरुआत से पहले निकाला गया शुरुआती आधा घंटा वाकई सोचने, नई योजनाएँ बनाने और कुछ नया करने के लिए समय प्रदान कर देता है। हालाँकि उस दिन रजिस्ट्रार को-ऑपरेटिव सोसाइटी, जहाँ मैं अतिरिक्त रजिस्ट्रार, बैंकिंग नियुक्त था, एक अलग तरह का दिन था।

अपने पीले चेहरे के बावजूद उस नवयुवक में आत्मविश्वास झलक रहा था। वह मुझे कुछ मिनट का समय चाहता था। मैंने थोड़ी बेचैनी महसूस की, पर उसके लगातार अनुरोध ने मेरे सामने कोई विकल्प नहीं छोड़ा।

उसकी एक अजीब सी कहानी थी। वह एक दूर-दराज के जिले के सहकारी बैंक में काम करता था; पर धीरे-धीरे वह नशे का आदी बन चुका था। उसने ड्रग्स खरीदने के लिए पैसा चुराया और पकड़ा गया। उसे बैंक से निकाल दिया गया और अब वह दुबारा अपनी नौकरी वापस पाना चाहता था। मैं इन परिस्थितियों में कुछ भी नहीं कर सकता था; पर मुझे आश्चर्य हुआ कि वह अपने उस बेहूदे प्रस्ताव के साथ इतनी दूर से यात्रा करके यहाँ आया था। शायद उसने मेरे चेहरे के भाव पढ़ लिये और मेरी प्रतिक्रिया का अंदाजा भी लगा लिया था। हालाँकि वह बिना धबराए अपनी बात कहता गया कि बैंक से निकाले जाने के बाद उसे कितनी तकलीफों का सामना करना पड़ा था। अपनी वार्ता के दौरान उसने अपने बाएँ हाथ के दस्ताने को हटाते हुए अपना नकली हाथ दिखाया और उसका रहस्य खोला कि उसे गैंगरीन हो गया था, जिसके कारण उसका एक हाथ काटना पड़ा था और इसकी वजह उसके द्वारा ली गई ड्रग्स के इंजेक्शन ही थे। बाद में उसने पुनः सुधार की पूरी प्रक्रिया अपनाई और बैंक में भी वापस लौटना चाहता था। उसका अंतिम वाक्य वाकई बहुत ही प्रभावित करनेवाला था। यदि उसका पुनः सुधार नहीं होता, तब वह या तो फिर से ड्रग्स का आदी हो जाएगा या फिर आत्महत्या कर लेगा। उसका स्वर न तो धमकीवाला था और न ही अनुरोधवाला। उस समय उसका आत्मविश्वास डिगा हुआ था और यही वास्तविकता उसने कही भी थी।

अपनी प्रशासनिक सेवाओं के छह वर्षों के सीमित अनुभव के बावजूद मैं जानता था कि वह युवक झूठ नहीं बोल रहा था। यही उसकी वास्तविकता थी। वैसे, इस मामले में जोखिम बहुत था और नौकरशाही की परिभाषा में जोखिम उचित नहीं है। खैर, चाहे जो भी हो, पर मैं यह जोखिम उठाने के लिए तैयार था। मैंने उस युवक से एक आवेदन लिखने के लिए कहा और फिर संबंधित बैंक से फोन द्वारा सारी जानकारी हासिल की। इसके बाद मैंने अपने रजिस्ट्रार को एक नोट लिखा, जो कि नियुक्ति प्राधिकारी थे। जब मैंने उन्हें यह कहानी बताई, तब उन्होंने मेरी तरफ संदेह भरी नजरों से देखा। उनके साथ कुछ समय तक काम करने के कारण वे जानते थे कि इस मामले में मेरी कोई व्यक्तिगत वजह नहीं थी; पर वे निश्चित नहीं थे कि मैं जो कुछ भी कर रहा था, वह सही था या नहीं। फिर भी, उन्होंने मेरे प्रस्ताव को सहमति दे दी और उस युवक, जो कि अपना एक हाथ गँवा चुका था, को नौकरी मिल गई।

इसके बाद लगभग दो वर्षों तक उस युवक की कोई खबर नहीं आई। सबसे अधिक तो यह था कि मेरे इस काम के कारण मुझ पर कोई जाँच भी नहीं आई, जिसमें मैंने एक ऐसे व्यक्ति को फिर से नौकरी पर बहाल कर दिया था, जो कि कभी नशे का आदी था और चोरी करते हुए पकड़ा जा चुका था। मैं अपने विभाग से बाहर आ गया। (उन दिनों हम बार-बार नहीं घूम सकते थे, जैसे कि बाद में उत्तर प्रदेश में करते थे।)

मेरी बेटी के दाँत भी कुछ मेरी ही तरह टेढ़े-मेढ़े हैं और इसके लिए मैं एक चिकित्सक के पास गया था। अधिकतर डॉक्टर अपने मरीजों का खयाल रखते हैं, पर वह डॉक्टर मेरा कुछ अधिक ही खयाल रखता नजर आ रहा था। उसका काम जब पूरा हो गया, तब मैंने उसकी सेवाओं के भुगतान के बारे में पूछा। वह सिर्फ मुसकरा दिया। जब मैंने जोर देकर पूछा, तब उसने अपनी सारी कहानी बताई कि जिस युवक का पुनः सुधार हुआ था, वह इसका

चचेरा भाई था। डॉक्टर ने उस व्यक्ति से पैसा लेने से मना कर दिया, जिसने उसके चचेरे भाई को नया जीवन दिया था।

उस नवयुवक ने अपनी जिंदगी बेहतर तरीके से जारी रखी। उसका विवाह भी हुआ और वह व्यवस्थित जीवन जीने लगा। कुछ वर्षों के बाद उसने मुझे एक पंक्ति लिखकर भेजी—‘प्रधानमंत्री के सभी लोग।’ उसमें वाकई हास्य-बोध था।

जिस दिन मुझे 'भारत रत्न' मिला

लखीमपुर खीरी में जिलाधिकारी के पद पर रहने के दौरान भी कार्यालय जल्दी पहुँचने की अपनी बुरी आदत को मैं छोड़ न सका था। सामान्यतया जिलाधिकारी अपने 'कैप ऑफिस' से ही संचालन के लिए जाने जाते हैं, जो कि उनके भव्य निवासों के साथ संलग्न होता है। मैंने कलेक्ट्रेट ऑफिस में नियत समय से पहले ही पहुँचने का एक अरुचिकर उदाहरण प्रस्तुत किया था। शायद उन लोगों को लगता था कि समय के साथ जिले में मैं बदल जाऊँगा; पर जैसा कि लोग कहते हैं कि पुरानी आदतें मुश्किल से छूटती हैं, मेरे मामले में उन्होंने मुझे नहीं छोड़ा।

कलेक्ट्रेट ऑफिस में एक दिन जल्दी सुबह एक बुजुर्ग दंपती से मेरी मुलाकात हुई। बाद में मुझे पता चला कि वह बुजुर्ग अंधा था और उसकी पत्नी भी लगभग अंधी ही थी। उनकी भी कहानी सामान्य थी, पर उनकी माँग असामान्य थी। वहाँ कोई भी उनकी सहायता करनेवाला नहीं था और बिना सहायता के वे भूख से मर जाते। वे मुझसे भीख नहीं चाहते थे, पर मुझसे प्राप्त पैसे से कुरसियों को बीनने वाला प्लास्टिक का तार खरीदना चाहते थे। उन्हें सिवाय कुरसी बीनने के अपनी आजीविका के लिए कुछ भी नहीं आता था। उन्होंने मुझसे सौ रुपए की माँग की थी, जो कि सन् 1991 एक में अच्छी-खासी रकम थी। मैं शायद उस रकम को अपने से अलग न करता, क्योंकि मेरे बटुए में सिर्फ उतना ही पैसा था। वैसे, जिलाधिकारी अपने पैसे इधर-उधर फेंकने के लिए नहीं जाने जाते हैं। हालाँकि कोई भी व्यक्ति उस दंपती में अपने अस्तित्व की रक्षा करने की सार्थक दृढ़ता देख सकता था। मेरे पास जो भी पैसा था, मैंने उन्हें दे दिया। मैं बिना उस रकम के भी जीवित रह सकता था; पर यह धन उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण था।

पैसे की तरह यह घटना भी शीघ्र ही भुला दी गई। जीवन वैसे ही चलता रहा जैसा जिले में चला—यानी बाढ़ की विभीषिका, राम मंदिर आंदोलन, आतंकवादियों से रात भर मुठभेड़, मंडल आयोग का असर और इसी तरह की घटनाएँ। लगभग एक साल बीत चुका था, पर समय से पहले ऑफिस पहुँचने की मेरी आदत नहीं बदली थी। एक दिन मैंने देखा कि वही बुजुर्ग दंपती अपने हाथों में माला लेकर खड़े हैं और उनकी पत्नी ने जैसे ही मुझे कार से उतरते देखा, उसने अपने पति को मुझे माला पहनाने को कहा। मैं इस स्थिति का अंदाजा भी नहीं लगा सका। वे दंपती मुझे उनके जीवन को बचाने के लिए धन्यवाद देने और मेरे दिए हुए सौ रुपए वापस करने आए थे। यह अविश्वसनीय था। मैंने उनसे सौ रुपए और माला लेने से मना कर दिया। मेरे पास सौ रुपए की निर्धनता तो थी, पर मुझे उस दिन 'भारत रत्न' मिल चुका था।

अति धनाढ्यों की सेवा

आकलनकर्ता दल का प्रमुख : 'धनिकों' की सेवा

वह 2013 का साल था। यूपीए-2 की सरकार के लिए कुछ भी सही नहीं चल रहा था। चारों तरफ घोटाले-ही-घोटाले थे। हर कोई, जिसमें नौकरशाह भी शामिल थे, प्रवर्तन एजेंसियों के साथ भारी दबाव में था। परिणामतः किसी के पास भी निर्णय लेने का समय या रुझान नहीं था। चूँकि आवश्यक निकासी नहीं हो रही थी, इसलिए निवेश भी रुका हुआ था।

जैसे ही मैं इंदिरा गांधी हवाई अड्डे पर अपनी सिएम रीप, कंबोडिया की यात्रा से लौटा, मुझे एक संदेश मिला —“कैबिनेट सचिव आपसे तुरंत बात करना चाहते हैं।” मैं कंबोडिया राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आर.एस.बी.वाई.) पर चर्चा करने गया था। उस समय देर शाम हो चुकी थी, फिर भी मैंने कैबिनेट सचिव से फोन पर संपर्क करने का प्रयास किया और मैं किसी 'खबर' की उम्मीद कर रहा था। उन्होंने मुझे पूछा कि क्या मैं अगले दिन सुबह जल्दी उनसे मुलाकात कर सकता था? मैंने संदर्भ जानने की कोशिश की, पर उनका जवाब गूढ़ होने के बावजूद मुलायमित्व से भरा हुआ था, “सिर्फ एक संक्षिप्त वार्ता के लिए।” मैं इस वास्तविकता से परिचित था कि ऊँचे दर्जे के नौकरशाह से सिर्फ एक संक्षिप्त वार्ता नहीं करेंगे। मैं रात भर मुश्किल से ही सो सका। तरह-तरह के विचार मेरे मस्तिष्क में आ-जा रहे थे।

राष्ट्रपति भवन के एक कोने में स्थित कैबिनेट सचिव के कार्यालय में अपने निर्धारित समय से पहले ही मैं पहुँच चुका था। यह कार्यालय शायद औपनिवेशिक काल की खुमारी दरशाता था, क्योंकि इस समय इसका राष्ट्रपति से कुछ भी लेना-देना नहीं है। मैं अपनी धड़कन पर नियंत्रण रखकर कैबिनेट सचिव के आने का इंतजार कर रहा था। मैं उस समय बहुत ही बेचैन था। कैबिनेट सचिव भी जल्दी ही कार्यालय आ गए थे। जब वे गलियारे से अपने कक्ष की तरफ जा रहे थे, तब उन्होंने आगतुक कक्ष में मुझे इंतजार करते देखा और हाथ हिलाकर मुझे भीतर बुला लिया।

मेरे बैठने से पहले ही उन्होंने कहा कि, “तुम्हें एक नई जिम्मेदारी के लिए चुना गया है।” मेरा दिमाग तेजी से चल रहा था। दो साल पहले गृह मंत्रालय में नक्सल क्षेत्र की जिम्मेदारी के लिए मेरा चयन किया गया था; पर श्रम मंत्रालय ने देखा कि मैं आर.एस.बी.वाई. के माध्यम से निर्धन से निर्धनतम लोगों की सेवा में लगा हूँ। इस बार इस तरह की ऐसी कोई स्थिति नहीं थी और मेरा वर्षों का बढ़ा हुआ कार्यकाल भी समाप्त होने जा रहा था। मैंने उनसे कहा, “सर, मैं अपना बढ़ा हुआ कार्यकाल पूरा करने जा रहा हूँ। इसलिए मुझे आवश्यक शांति के लिए राज्य वापस लौटना होगा।”

उनके जवाब ने मुझे चकरा दिया, “आपका एक साल का कार्यकाल बढ़ा दिया गया है।” यह एक असामान्य स्थिति थी। आई.ए.एस. अधिकारियों का अधिकतम कार्यकाल केंद्रीय प्रतिनियुक्ति पर सात साल का ही बढ़ाया जा सकता था और इन्होंने उससे आगे बढ़कर एक साल की घोषणा की थी। मेरी आशंकाएँ बढ़ गई थीं, क्योंकि मुझे अभी तक नहीं पता था कि आगे क्या होने वाला था। मैं उनकी तरफ अविश्वास भरी नजरों से देख रहा था कि तभी उन्होंने मेरे काम के बारे में मुझे बताया, जिसके अनुसार, बड़े निवेश की परियोजनाओं की निगरानी के लिए कैबिनेट सचिवालय ने प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग ग्रुप (पी.एम.जी.) स्थापित किया था और मुझे उसका प्रमुख बनाया गया था। यह निर्णय प्रधानमंत्री, वित्त मंत्री और कैबिनेट सचिव के बीच चर्चा के उपरान्त लिया गया था। इसलिए अब कोई विकल्प नहीं था। यदि मुझे विकल्प का अवसर दिया जाता, तब मैं अपने इस अतिरिक्त साल का उपयोग निर्धन-से-निर्धनतम लोगों की सेवा में ही लगाए रखता; परंतु अब मुझे संपन्न-से-संपन्नतम लोगों की सेवा का काम सौंपा गया था।

जैसे ही मैं कमरे से बाहर निकला, मेरा फोन बज उठा। वह मेरे स्कूल के दिनों का एक दोस्त, जो कि सार्वजनिक क्षेत्र के एक बैंक के अध्यक्ष पद तक पहुँचा, उसी का फोन था। उसने मुझे बताया कि वित्त मंत्री ने अभी-अभी मुंबई में बैंकर्स की एक बैठक में घोषणा की है कि 1,000 करोड़ रुपए या इससे भी अधिक की परियोजनाओं में तेजी लाने के लिए 'स्वरूप पैनल' का गठन किया गया है।

सरकार ने भी यह दिखाया था कि यदि उनमें इच्छा हो तो वे भी तेजी से काम कर सकती हैं। मेरे लिए यह एक नए व अनजाने क्षेत्र की ऐसे समय यात्रा थी, जब हर रोज घोटाले हो रहे थे और मुझे उच्च स्तरीय परियोजनाओं की अनुमति को सहज बनाना था।

अवांछित...कम-से-कम शुरुआत में

केवल वित्तमंत्री ही चाहते थे कि परियोजनाएँ तीव्र गति से पूरी हों। उन्हें इसके लिए दोष नहीं दिया जा सकता था। हालाँकि वातावरण ही दूषित हो चुका था। यदि तुमने कुछ भी नहीं किया, तब तुम्हारे साथ कुछ भी नहीं होगा; किंतु यदि तुमने कोई काम किया है, तब तुम्हारे साथ कुछ भी हो सकता है। हर आदमी अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहता था। पूरी अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचेगा, इससे उसका कोई मतलब नहीं था। हालाँकि जिस चीज ने मुझे सबसे अधिक आश्चर्यचकित किया था, वह उन लोगों का दृष्टिकोण था, जो कि इस विलंब के प्रभाव से संबंधित थे। उनकी चर्चा की दिशा विस्मयकारी थी। उनका आशय था कि किसी भी प्रकार की गलती नहीं होनी चाहिए, चाहे इसके लिए कुछ भी न करना पड़े। उद्यमियों के लिए उनका संबोधन वाकई हताशा भरा था। जो लोग वित्तमंत्री को प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग ग्रुप (पी.एम.जी.) जैसी सहायता देते नजर आ रहे थे, वे ही इन विशेषणों का इस्तेमाल करते थे। आर्थिक मामलों का विभाग आश्चर्यजनक रूप से पी.एम.जी. और वित्तीय सेवा विभाग के प्रति उदासीन भाव रखता था। उन्होंने जहाँ तक संभव हो, स्वयं को सुरक्षित बनाए रखने के लिहाज से दूरी बना रखी थी।

यहाँ उन मंत्रालयों के बीच भी शुरुआती प्रतिबंध थे, जिन्हें इन मुद्दों से लाभ होने वाला था। शुरुआत में ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि वहाँ परियोजनाओं के स्वामित्व का अभाव था, यहाँ तक कि उनके तेजी से लागू होने से मंत्रालयों के उद्देश्यों की भी पूर्ति होने वाली थी। उदाहरणस्वरूप, मुझे ऊर्जा मंत्रालय के प्रतिनिधि को निजी क्षेत्र की ऊर्जा परियोजनाओं को समर्थन देने के लिए यकीन दिलाने में समय लगा और अनुमति मिलने में देरी की वजह से यह रुकी रही। अंततः मंत्रालय को स्वयं आगे बढ़कर इन परियोजनाओं को आक्रामक रूप से प्रोत्साहित करना पड़ा। यही स्थिति अन्य मंत्रालयों के बारे में नहीं कही जा सकती थी कि उन्हें इस नई तकनीकी व्यवस्था को समझने में काफी समय लगा।

जिन मंत्रालयों ने समस्याएँ उत्पन्न कीं और जिनकी वजह से विलंब हुआ, वे नई संस्था के प्रति आशंकित थे। कोई भी यह नहीं चाहता था कि उन्हें कुछ बताया जाए या कुछ करने के लिए कहा जाए। बहुत से सचिवों में से एक ने तो पी.एम.जी. को एक बुरा पत्र भी लिखा था कि यदि परियोजनाओं में तेजी लाई जाएगी, तब वे सी.बी.आई. और न्यायालय को आकर्षित करेंगे। इस पत्र का बहुत से लोगों ने समर्थन किया था और फिर इसके मीडिया तक पहुँचने के कारण बहुत से लोगों को परेशानी भी हुई थी। हालाँकि कुछ समय के बाद इसी मंत्रालय ने पी.एम.जी. की उपयोगिता को समझा और फिर स्वयं से संबंधित मुद्दों के समाधान के मंच का उपयोग करना शुरू कर दिया था। साथ ही अन्य मंत्रालय भी धीरे-धीरे और अनिच्छा के साथ उनके पास आए। उनकी साप्ताहिक बैठकें भी उदासीनता के साथ चलीं। पी.एम.जी. के निरंतर कार्य से उन्हें परेशानी हो रही थी। शुरुआत में कोई भी इसे मानने के लिए तैयार नहीं था। वाकई एक बैठक में तो वित्त सेवा विभाग के एक प्रतिनिधि ने स्पष्ट रूप से कहा था कि वे बैंकों को किसी भी तरह का निर्देश जारी नहीं कर सकते थे।

राज्यों की तरफ से भी शुरुआती अनिच्छा ही थी। पी.एम.जी. की कार्यप्रणाली को उनके प्राधिकारी स्वयं पर अतिक्रमण समझते थे। पारंपरिक रूप से राज्य सरकार से संबंधित किसी मामले की बैठक जब दिल्ली में होती थी, तब राज्य के अधिकारी वहाँ आमंत्रित किए जाते थे। पी.एम.जी. ने इस परंपरा को बदल दिया था और राज्य सरकार के अधिकारियों से वार्ता करने के लिए राज्य की यात्रा करनी शुरू कर दी थी। राज्यों को जानेवाले केंद्र के दल के प्रति आशंकाएँ भी उपजती थीं; पर शीघ्र ही वे आशंकाएँ दूर हो गईं।

उस समय यह उद्योग हताश, निराश और उत्साहहीन था। उन्हें यकीन नहीं था कि पी.एम.जी. किस तरह से काम करेगी। उद्योग की तरफ से बोलनेवाले परामर्शदाता हमेशा इसकी आलोचना करते थे। सरकार के खिलाफ होनेवाली आलोचनाओं ने निर्णय लेने की क्षमता को निष्प्रभावी बना दिया था। हालाँकि जब निर्णय लिये गए, तब आलोचना निर्णयों के न लागू होने पर की जाने लगी थी। जब यह बेहतर तरीके से लागू हो गई, तब इसके जमीनी स्तर पर होनेवाले निवेश पर सवाल उठाए गए। कुछ सवाल वाकई संदर्भ-युक्त थे, परंतु उनकी वार्ताओं में सनक बहुत थी। वाकई एक ऐसे विशेषज्ञ थे, जो कि एक उद्योग संगठन के मुख्य सचिव भी रह चुके थे और जमीनी स्तर पर कुछ भी परिणाम दे पाने में असफल थे; परंतु वे आलोचना में मुखर थे। वे वाकई लिखने में बहुत अच्छे थे, पर इसके लागू होने के अर्थभेदों का उनके पास कोई रास्ता नहीं था।

मीडिया ने आश्चर्यजनक रूप से इस विचार की सराहना की और कुछ सकारात्मक बातें भी प्रकाशित की थीं।

पी.एम.जी....जारी रही

शुरुआती सनक और तटस्थता के बावजूद मैं इसके साथ चलता रहा, मगर इस समय स्थिति बहुत ही हताशा और मनहूसियत से भरी हुई थी। बड़े स्तर के निवेश में तेजी लाने के लिए सी.सी.ई. (कैबिनेट कमेटी ऑफ इन्वेस्टिगेशन) का गठन हुए छह महीने बीत चुके थे, मगर कार्य में किसी तरह की प्रगति नहीं हुई थी; क्योंकि इस आयोग के लिए दौड़-भाग का काम करने के लिए कोई संस्थान नहीं था। सी.सी.आई. कभी-कभी ही निकलती थी और कुछ ही परियोजनाओं पर ध्यान देने के लिए सामने आई थी। वैसे यह और भी भयावह था कि सी.सी.आई. द्वारा लिये गए निर्णयों की देख-रेख और इसके लागू होने की सुनिश्चितता के लिए कोई तंत्र नहीं था। मीडिया भी विकास न हो पाने को लेकर आलोचना कर रहा था। 'दि इकोनॉमिक टाइम्स' ने इसकी अनुमति में होनेवाली देरी के लिए पूरे पृष्ठ पर खबर छपी थी और इसने सभी को नाराज कर दिया था। पी.एम.जी. का अभी-अभी ही जन्म हुआ था और इसने पहले से ही बहुत सी चुनौतियों का सामना किया था।

मैं पी.एम.जी. (प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग ग्रुप) के प्रमुख के पद पर था। हालाँकि यहाँ किसी तरह का दल अस्तित्व में नहीं था। वास्तव में तो यहाँ बैठने का भी कोई स्थान नहीं था। मुझे जमीन से ही शुरुआत करनी थी, वैसे इसका न होना ही मेरे लिए बेहतर था। यहाँ किसी तरह की विरासत नहीं थी। इस इमारत का निर्माण निवेशकों की आवश्यकता के आधार पर ही हो सकता था। आर.एस.बी.वाई. के अनुभव से इसमें आसानी हुई, क्योंकि वहाँ भी नीचे से ही शुरुआत करनी पड़ी थी। मैंने इसके लिए कुछ योग्य अधिकारियों का चयन किया था। उनमें से दो श्रम और रोजगार मंत्रालय से थे। उन अधिकारियों ने मेरे साथ काम किया था और काम के प्रति उनकी प्रतिबद्धता अनुकरणीय थी। मैंने अपने निजी स्टाफ का चयन बहुत ही सावधानीपूर्वक किया था, जिनमें से अधिकतर तो मेरे साथ पहले ही काम कर चुके थे। इसलिए विश्वास का स्तर काफी ऊँचा था। मेरी टीम में एक बेहतरीन अधिकारी डॉ. वी.पी. जॉय भी थे, जो कि संयुक्त सचिव के पद पर थे।

लंबे समय से अनुमति के लिए पड़ी समस्याओं के समाधान के लिए औद्योगिक प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल की आवश्यकता महसूस की गई और यह पी.एम.जी. की कार्य-पद्धति में पारदर्शिता के लिए आवश्यक था। वैसे, इस पर जल्दी सहमति नहीं बनी, क्योंकि कैबिनेट सचिवालय के अधिकतर पत्राचार और कागज गुप्त रखे जाते थे। हालाँकि समय के साथ कार्यों की पारदर्शिता की आवश्यकता सभी के लिए स्पष्ट हो चुकी थी। मंत्रिमंडल सचिवालय के तकनीकी दल का काम आसान हो चुका था। उसने वेब आधारित कार्यक्रम की शुरुआत कर दी थी। कोई उद्योग प्रस्तावक अपना स्वयं का लॉग-इन एवं पासवर्ड बना सकता था और संबंधित मंत्रालय को अपने मामले उसमें दे सकता था। इसी प्रकार, किसी भी मंत्रालय से संयुक्त सचिव स्तर के अधिकारी को नोडल अधिकारी के रूप में नियुक्त करने के लिए कहा जा सकता था। एक बार जब पी.एम.जी. के द्वारा परियोजना ध्यान देने के लिए स्वीकृत हो जाती थी, तब प्रोजेक्ट का विवरण और विषय संबंधित मंत्रालय या विभाग के पास स्वतः ही उसके नोडल अधिकारियों की मेज पर पहुँच जाते थे। इस स्थिति में नोडल अधिकारियों को पोर्टल पर ही अपनी टिप्पणी देनी पड़ती थी। ये टिप्पणियाँ संबंधित परियोजना प्रस्तावक के लिए भी उपलब्ध थीं।

प्रत्येक प्राप्तकर्ता मंत्रालय (जो कि फरवरी 2014 तक बारह थे) के लिए उप-संगठन तैयार किए गए थे और ये उप-संगठन नियमित समय एवं दिन पर मिला करते थे, जिनमें से तीन तो प्रति सप्ताह मिलते थे। प्रायोजित मंत्रालय और प्राप्तकर्ता मंत्रालय के प्रतिनिधियों की मौजूदगी में प्रस्तावित परियोजना द्वारा प्रस्तुत मुद्दे के संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण पर चर्चा की जाती थी। इन बैठकों के कार्य विवरण पोर्टल पर बैठक के समय ही रिकॉर्ड कर लिये जाते थे। ये चर्चाएँ विषय-केंद्रित होती थीं और बैठकें छोटी होती थीं, ताकि संबंधित मंत्रालयों में गुणवत्ता-युक्त जमीनी कार्य अग्रिम रूप से हों।

आर.एस.बी.वाई. के अनुभवों ने सिखाया था कि चर्चाएँ दिल्ली में न होकर राज्यों के मुख्यालयों में होती थीं। इस स्थिति से राज्य की नौकरशाही की हिस्सेदारी को बढ़ावा मिलता था और इसमें जिलाधिकारियों के शामिल होने से मुद्दों पर गंभीरता से चर्चा होती थी। इस दृष्टिकोण से काफी यात्राएँ करनी पड़ती थीं; परंतु इससे विषय की संकल्पना के बाजारीकरण को बढ़ावा दिए जाने के प्रयास को सफलता मिलती थी।

सी.आई.आई. (कॉन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज) और फिक्की (फेडरेशन ऑफ इंडियन चेंबर्स ऐंड कॉमर्स) जैसे औद्योगिक संगठनों को पी.एम.जी. की स्थापना के प्रचार से ताकत मिली और एक साल के भीतर ही

पी.एम.जी. की 156 परियोजनाओं में 5.60 लाख करोड़ रुपए के निवेश के मामलों में सहायक सिद्ध हुई। अब पी.एम.जी. ने परिणाम देने शुरू कर दिए। निवेशक भी खुश थे। सी.आई.आई. ने अपने पत्र में प्रधानमंत्री से पी.एम.जी. के द्वारा किए गए अच्छे कार्यों की सराहना की थी। फिक्की ने भी महसूस किया कि पी.एम.जी. द्वारा इस्तेमाल किए गए नमूनों को अन्य विभागों में अनुमति एवं तीव्रता के लिए दोहराया जा सकता था।

पी.एम.जी. ने अपना कार्य शुरू कर दिया और परिणाम भी आने शुरू हो गए थे।

‘कर’, जो कि हटाया जा सकता था

कैबिनेट सचिव का मेरे लिए एक फोन आया, “मोंटेक (सिंह अहलूवालिया) आपसे मिलना चाहते हैं।” वे मोंटेक के नाम से ही जाने जाते थे और योजना आयोग के उपाध्यक्ष भी थे। इस बार फिर मुलाकात का आशय स्पष्ट नहीं था और मुझे तुरंत बुलाया गया था। जैसे ही मैं उनके कक्ष में घुसा, उन्होंने मुझे पी.एम.जी. में मेरे अच्छे काम की सराहना की। हालाँकि वास्तविकता यह थी कि पर्यावरण एवं वन मंत्रालय में मिलनेवाली अनुमति के विलंब से हताशा शुरू हो चुकी थी। यह संकट काफी बढ़ चुका था, क्योंकि एक मंत्री, जो कि इन फाइलों को देख रहे थे, इसमें परियोजनाओं के निवेश 5,000 करोड़ रुपए से अधिक के थे। ऐसी भी अफवाह थी कि कैबिनेट मंत्री के नाम पर ‘टैक्स’ लिया जा रहा था। मैंने स्वयं ही तीन बार अलग-अलग मौकों पर कैबिनेट सचिव को अनुरोध करते हुए पत्र लिखा कि इस विशेष मामले की सूचना प्रधानमंत्री को दें, क्योंकि इस तरह की देरी से सरकार के लिए परेशानी उत्पन्न होती है, क्योंकि यहाँ पहले से ही घोटाले चल रहे थे।

जब मैंने बैठक में अपनी परेशानी बताई, तब मोंटेक ने मुझसे पूरा विवरण पूछा। मैंने पर्यावरण मंत्रालय के साथ होनेवाली समस्याओं और उससे होनेवाले परिणाम के बारे में भी बताया। उनके चेहरे पर परेशानी के भाव थे और फिर उन्होंने पूछा, “क्या आपने इस बारे में प्रधानमंत्री को बताया?” मैंने उन्हें बताया कि प्रधानमंत्री तक मेरी पहुँच नहीं थी। उन्होंने मुझे निश्चित करते हुए कहा, “ठीक है, मैं उनसे बात करूँगा।” मैं विज्ञान भवन एनेक्सी के अपने कक्ष में वापस आ गया।

दोपहर देर में कैबिनेट सचिव का मेरे पास दुबारा फोन आया। उन्होंने अभी-अभी प्रधानमंत्री के साथ एक लंबी वार्ता की थी। सामान्यतया वे परेशान नहीं नजर आते थे, पर उस समय वे थोड़ा बेचैन दिखे।

उन्होंने मुझसे पूछा, “आपने मोंटेक से क्या कहा?”

“मैंने उन्हें वही सब बताया, जो मैं आपसे पिछले दो महीनों से कह रहा था।” मेरा जवाब था।

“हर चीज!” उन्होंने आश्चर्य से पूछा और फिर स्वयं को शांत करते हुए कहा, “कोई बात नहीं, प्रधानमंत्री इस बारे में और भी जानना चाहते थे।”

यह स्पष्ट था कि मोंटेक ने प्रधानमंत्री से बात की थी। प्रधानमंत्री के मुख्य सचिव ने अगले दिन मुझे फोन किया और सारी जानकारी माँगी। सारी जानकारी उन्हें तुरंत ही दे दी गई और उसकी एक प्रति वेबसाइट पर भी उपलब्ध थी। मेरे द्वारा भेजी गई इस जानकारी की उपलब्धता की तेजी से ही उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ था, बल्कि उसकी सॉफ्ट फाइल की उपलब्धता भी महत्वपूर्ण थी। विवरण के अनुसार फाइलें और निर्णय पर्यावरण एवं वन मंत्रालय में रुके पड़े थे।

अगले एक सप्ताह तक कुछ भी नहीं हुआ। मुझे ऑस्कर फर्नांडीज से मुलाकात का एक अवसर मिला। जब वे श्रम मंत्री थे, तब मैं उनके साथ काम कर चुका था। बाद में वे अलग मंत्रालय में चले गए थे। चूँकि हम दोनों बैठक के नियत समय से पहले ही वहाँ पहुँच गए थे, इसलिए हमने बातें करनी शुरू कर दी। मैंने इस अवसर का लाभ उठाते हुए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय से अनुमति मिलने में देरी और पैसा बनाने से जुड़ी खबरों की भी बात की, जिसमें एक कैबिनेट मंत्री का भी नाम आ रहा था। यह भी अफवाह थी कि यह धनराशि पार्टी फंड के लिए इकट्ठा की जा रही है। ऑस्कर फर्नांडीज ने भी इसी तरह की अफवाह सुनी थी। ‘परिवार’ के नजदीक होने के नाते मैंने उन्हें परामर्श दिया कि चूँकि इस झमेले में उनका नाम घसीटा जा रहा था, उन्हें हाईकमान को यह बात बता देनी चाहिए। मुझे नहीं पता कि क्या हुआ, पर एक हफ्ते के भीतर ही संबंधित मंत्री को बाहर का रास्ता दिखा दिया गया था।

...पारदर्शिता ने प्रत्यक्षतः अपने पहले शिकार का दावा किया था।

कोयला समस्या

कार्य की शुरुआत और सफलता

सुबह-सुबह मेरे एक सहपाठी का मुझे एस.एम.एस. मिला। हालाँकि उसे हलके संदेश भेजने की आदत नहीं थी। उसे सुबह जल्दी उठने की भी आदत नहीं थी। संदेश था—‘बधाई’। एक मिनट के भीतर ही यही संदेश मेरे फेसबुक पर भी आया। मुझे यकीन नहीं आया कि मैंने इस संदेश के लिए ऐसा क्या किया था! इस समय माह का मध्य था और सामान्यतया स्थानांतरण या प्रोन्नति की घोषणा हर महीने के आखिरी दिनों में की जाती है। मैंने जिज्ञासावश निजी और प्रशिक्षण वेबसाइट पर जानकारी देखी, तब यह पता चला कि मेरी नियुक्ति कोयला मंत्रालय में विशेष अधिकारी के पद पर हुई थी, जो कि सचिव के रैंक का था। यह पद मेरे वर्तमान पदधारी की सेवानिवृत्ति पर सचिव के पद को सँभालने के पंद्रह दिन पहले ही इस मंत्रालय में शामिल किए जाने के लिए तैयार किया गया था।

मैं उस समय प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग ग्रुप में कुछ समय और बिताना चाहता था, क्योंकि परियोजना में तेजी लाने के संदर्भ में कुछ काम अभी बचा हुआ था। इसमें अनुमति के लिए वेब आधारित व्यवस्था तैयार करने की जरूरत थी और मैं उसी के लिए काम कर रहा था। खैर, सरकार ने कुछ अलग तरह से सोचा। कुछ संकटों का समाधान करना था और मुझे इसीलिए चुना गया था। बाद में मैंने जो समझा, ‘संकट’ शब्द उसके लिए कम था।

मेरे शुभचिंतकों और मित्रों की एक बड़ी संख्या की मेरे प्रति सहानुभूति थी, क्योंकि मेरा चयन इस कठिन दायित्व के पद पर हुआ था। मैं स्वयं भी कोयला मंत्रालय की कार्यप्रणाली से पूरी तरह से परिचित नहीं था, इसलिए मैंने अपने एक सहकर्मी से इसकी जानकारी माँगी। उसका जवाब था, “क्या तुमने ‘गैंग्स ऑफ वासेपुर’ देखी है?” यह कोयला माफिया पर आधारित फिल्म है। उसके जवाब ने स्थिति काफी स्पष्ट कर दी थी।

16 अक्टूबर को मैं कोयला मंत्रालय में आ गया था। अगले ही दिन प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक बैठक हुई, जिसमें बताया गया कि ऊर्जा क्षेत्र के सारे संकट की वजह कोयले की समस्या है। कोयले की कमी से वाकई संकट था; पर मैं इस तथ्य से सहमत नहीं था कि ऊर्जा क्षेत्र के संकट का एकमात्र कारण कोयला ही था। इस कार्यक्षेत्र में नया होने के बावजूद मैंने इंगित किया कि ऊर्जा क्षेत्र को समग्र रूप से देखे जाने की आवश्यकता है। प्रधानमंत्री मुझसे सहमत थे। पर उन्होंने कहा कि यदि मैं कोयले की समस्या का समाधान करूँगा, तब हमारी अर्थव्यवस्था उन्नत होगी। (कोयले का मुद्दा आगे चलकर सुलझा लिया गया था। पर यह एक बहस का मुद्दा है कि परिणामस्वरूप क्या अर्थव्यवस्था में प्रगति हुई थी?) सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 204 कोयला ब्लॉकों के आवंटन को निरस्त किए जाने के आदेश के बाद इस स्थिति की देखरेख के लिए अध्यादेश को अंतिम रूप दिए जाने का संदेश भी था। यह अध्यादेश 20 अक्टूबर को मंत्रिमंडल में पेश होने वाला था। इसमें सिर्फ 72 घंटे ही बचे थे। यह एक बहुत बड़ा काम था; पर प्रतिबद्ध अधिकारियों के समूह ने इसे सफलतापूर्वक पूरा कर लिया।

...मैंने सफलतापूर्वक शुरुआत की।

मि. स्वरूप, क्या ऐसा ही है?

सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के परिणामस्वरूप उत्पन्न स्थिति को सँभालने के लिए एक आवश्यक कानून लाने के लिए एक विधेयक लाया गया था। हालाँकि वास्तविक चुनौती इस विधेयक को संसद् में पारित कराने की थी। इस विधेयक को लोकसभा में तो पारित कराना आसान था, परंतु इसकी असली परीक्षा राज्यसभा में थी, जहाँ सरकार के पास बहुमत नहीं था। हालाँकि विपक्षी राजनीतिक दल इसमें पड़ने की मानसिकता में नहीं थे। वे सिर्फ संसदीय कार्यप्रणाली में बार-बार अवरोध डालकर सरकार को परेशान करना चाहते थे। इस स्थिति में संसद् का बहुमूल्य समय भी बरबाद हुआ; परंतु उन्हें इसकी चिंता नहीं थी, परिणामतः विधायी कार्य के अभाव में संसद् में अधिकतर विधेयक यँ ही पड़े थे।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निरस्त किए जा चुके कोल ब्लॉक के आवंटन को शुरू करने के लिए उपर्युक्त विधेयक का पारित होना आवश्यक था। अतः संसद् सदस्यों और इससे संबंधित लोगों तक पहुँचने की रणनीति तैयार की गई तथा उन्हें इस कानून की महत्ता भी बताई गई।

इस रणनीति का एक हिस्सा विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों के पास भी जाने का था (यानी ऐसे राज्य, जहाँ एन.डी.ए. के विरोधी दल सत्ता में थे)। अपनी एक खास छुट्टी वाले दिन मैं अपने परिवार के साथ अपने एक मित्र के घर गुड़गाँव जा रहा था, तभी मुझे श्री अरुण जेटली के घर से संदेश मिला कि उड़ीसा के मुख्यमंत्री उनके घर पहुँच चुके हैं और श्री जेटली चाहते हैं कि मैं वहाँ आऊँ और प्रस्तावित विधेयक के बारे में उन्हें स्पष्ट करूँ। मैं तुरंत वापस लौटा और मि. जेटली के घर पहुँचा। मैंने उस कक्ष में प्रवेश किया, जिसमें श्री जेटली उड़ीसा के मुख्यमंत्री श्री नवीन पटनायक, श्री पीयूष गोयल (ऊर्जा एवं कोयला मंत्रालय के राज्यमंत्री, स्वतंत्र प्रभार) और उड़ीसा के मुख्यमंत्री के सचिव भी मौजूद थे। जब मैं कमरे में घुसा, तब श्री गोयल मुख्यमंत्री को कुछ बता रहे थे। श्री जेटली ने उन्हें बीच में रोका और मुख्यमंत्री से मेरा परिचय कराया। तत्पश्चात् मुझे उस विधेयक और उसकी तर्कसंगतता के बारे में विवेचित करने के लिए कहा गया। मैंने वह बात अपने मस्तिष्क में रखते हुए अपनी बात कही कि मुख्यमंत्री छत्तीसगढ़ की तुलना में अपने राज्य को मिलनेवाली आवंटन की राशि से संतुष्ट नहीं थे। मैंने उन्हें स्पष्ट किया कि इन आवंटनों से केंद्रीय सरकार को एक भी पैसा नहीं मिल रहा था, फिर भी वह इन आवंटन की पारदर्शी प्रक्रिया में अपना पूरा प्रयास कर रही थी। उन्हें आश्चर्य हुआ और यह उनकी प्रतिक्रिया में भी नजर आया, “क्या ऐसा है, मि. स्वरूप?”

फिर मैंने उन्हें आवंटन की पूरी प्रक्रिया विस्तार से बताई। मेरे कथनों और उसके स्पष्टीकरण से वे प्रभावित थे और कई बार उन्होंने पूछा, “क्या ऐसा है, मि. स्वरूप?” मैंने अपने स्मार्ट फोन का इस्तेमाल किया और उस वेब पोर्टल पर गया, जहाँ लाइव आवंटन की प्रक्रिया जारी थी। सौभाग्य से, उस समय उड़ीसा की ही एक खान का आवंटन हो रहा था। मैंने उन्हें बताया कि प्रत्येक नीलामी पर 2 रुपए की बढ़ोतरी राज्य के लिए 50 लाख रुपए में परिवर्तित हो जाती है। वे आवंटन की इस प्रक्रिया से बहुत ही प्रभावित थे, अतः मेरे जिस कथन का सबसे अधिक असर हुआ, वह था कि उड़ीसा की इस नीलामी में कुल 27 हजार करोड़ रुपए प्राप्त हुए और इस बार उनका यह अंतिम वाक्य था, “क्या वाकई ऐसा है, मि. स्वरूप!” बीजू जनता दल ने इस विधेयक का संसद् में समर्थन किया।

भारत में राय देनेवालों की कमी नहीं है। वे आपके चारों तरफ हैं। ये राय साहब लोग सभी अवसर और रूपों में उपलब्ध होते हैं। इनमें से कुछ की मौजूदगी बहुत ही परिष्कृत होती है; जैसे—मैकिंजे एंड कंपनी, के.पी.एम.जी. और पी.डब्ल्यू.सी., सेवानिवृत्त सरकारी अधिकारियों की एक संख्या (पर वे सभी नहीं, जिन्होंने अपने कार्यकाल में बेहतर किया था), कुछ आत्मघोषित और अच्छे संपर्कवाले विशेषज्ञ आदि। इनमें से कुछ तो अपने परामर्श की कीमत भी नहीं लेते हैं, जब तक कि आप उन्हें अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति नहीं दे देते हैं, जो कि उन्हें लगता है कि उन्हीं का है।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कोल ब्लॉक के आवंटन को निरस्त किए जाने के बाद नई सरकार कोल ब्लॉक की नीलामी की प्रक्रिया को गति देना चाहती थी। मंत्रालय के सचिव के रूप में मुझे इस कार्य को करने की जिम्मेदारी दी गई थी। हालाँकि कुछ एक को लगता था कि कोल ब्लॉक की नीलामी की होनेवाली प्रक्रिया में जाँच होगी और इसके साथ काफी उम्मीदें भी थीं। इस मामले को कोयला मंत्रालय की उच्च नौकरशाही के हवाले कर देना काफी संवेदनशील था। इसके मुखिया को नौकरशाही पर भरोसा तो था, पर इसके लिए उनमें मुक्त हस्त कर देने के लिए पर्याप्त विश्वास की कमी थी। अतः मि. विनोद राय के नेतृत्व में एक औपचारिक कमेटी बनाई गई। मि. विनोद राय अपने महालेखा नियंत्रक के कार्यकाल में कोल ब्लॉक के आवंटन में अनियमितताओं को इंगित करने के जिम्मेदार रहे हैं। उनसे यह आशा की गई थी कि वे कोल ब्लॉक की नीलामी करने में अपनी 'राय' देंगे। हालाँकि वे अपनी 'राय' देने के बहुत इच्छुक नहीं थे।

यहाँ का माहौल काफी गरम था। प्रधानमंत्री कार्यालय में मुख्य सचिव के कक्ष में चर्चा हुई। उन्होंने परामर्श दिया कि कोल ब्लॉक की नीलामी को देखने के लिए एक कमेटी होनी चाहिए। मैंने इसका विरोध किया, क्योंकि मंत्रालय के सचिव होने के नाते मैं नहीं चाहता था कि ऐसी कोई कमेटी मेरे गले के नीचे देखरेख के रूप में साँस लेती रहे। मैं स्पष्ट था कि इस नीलामी की प्रक्रिया का काम मेरा था, इसलिए हम इससे संबंधित सभी जिम्मेदारियों के लिए तैयार थे। जब मैंने इसका विरोध किया, तब एक गर्मागर्म बहस भी हुई। सामान्यतया पी.एम.ओ. के साथ कोई भी बहस नहीं करता था। पी.एम.ओ. ही सभी संवेदनशील मामलों का अंतिम निर्णायक था। सभी को सुना जाता था, पर अंतिम निर्णय इसी ऑफिस से आता था। इस मामले में तो मुख्य सचिव स्वयं ही थे। हालाँकि अति अड़ियल होने का जोखिम तो था, पर मैं अपना मन बना चुका था। मैं स्पष्ट था कि जब मैं मुखिया हूँ, तब मैं ही नेतृत्व करूँगा। मैं किसी से भी परामर्श लेने का विरोध नहीं करूँगा; किंतु किसी भी रूप में औपचारिक परामर्शदाता, निगरानीवाला या फिर परामर्श समिति मुझे स्वीकार्य नहीं थी। चूँकि वे मेरे साथ पहले भी काम कर चुके थे, अतः वे संभवतः जानते भी थे कि मैं आसानी से झुकनेवाला नहीं था। काफी शोर-शराबे और नाखुशी के साथ वह इरादा टाल दिया गया। हमें राय साहब लोगों के योजनाबद्ध परामर्श से मुक्ति मिल गई थी। हालाँकि नीलामी की प्रक्रिया के दौरान अनौपचारिक परामर्श से हम अवश्य ही लाभान्वित होते रहे।

कोल ब्लॉक आवंटन... अंधेरे से उजाले की ओर

इस समय संकट की स्थिति थी। पिछले डेढ़ दशकों में जिन कोल ब्लॉकों का आवंटन किया गया था, उनकी जाँच हो रही थी। सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1993 से आवंटित किए गए सभी 240 ब्लॉकों के आवंटन को 'मनमाने ढंग से' मानते हुए निरस्त कर दिया था। भारत में कोयले के उत्पादन का एक बड़ा भंडार होने के बावजूद यह मौंग से काफी पीछे चल रहा था। यहाँ तक कि भारत दुनिया में तीसरा सबसे बड़ा भंडार है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार, यदि आवश्यक सुधार के कदम तुरंत नहीं उठाए गए, तब इसका उत्पादन संकट की स्थिति में आ जाएगा।

सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में कोल ब्लॉक के आवंटन के अपारदर्शी और नियमों को ताक पर रखकर किया गया बताया, जिसके कारण निजी क्षेत्रों को अप्रत्याशित लाभ और सार्वजनिक कोश को नुकसान बताया। 25 अगस्त, 2014 और 24 सितंबर, 2014 के अपने आदेश में उसने इन कोल ब्लॉक आवंटनों को निरस्त कर दिया था। इस निर्णय में न्यायालय का आदेश था कि ऐसे 42 कोल ब्लॉक में जहाँ खुदाई का काम जारी था, वे खदानें 31 मार्च, 2015 के बाद बंद कर दी जाएँगी।

सरकार काररवाई की शीघ्रता में थी। 42 कोल ब्लॉकों में वैकल्पिक पट्टे का समय पूरा होने में कुछ ही महीने (31.3.2015 तक) बचे थे और उसकी उच्चतम क्षमता 9 करोड़ टन की ही थी। इस कठिन कार्य को पूरा करने के लिए विधेयक पारित होना आवश्यक था। संसद् का सत्र भी नहीं चल रहा था। इसलिए अध्यादेश लागू था। इस विधायी अंतराल को भरने और संकट की स्थिति को सँभालने के लिए अध्यादेश की आवश्यकता थी। इसका प्राथमिक उद्देश्य था कि कोल ब्लॉक के निरस्तीकरण के कारण कोयले के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इसलिए इसे कोल ब्लॉकों की पारदर्शी और तीव्र आवंटन की प्रक्रिया द्वारा हासिल किया जाना जरूरी था।

आवंटन की पारदर्शी प्रक्रिया की तैयारी हो चुकी थी। वैसे यह काम आसान नहीं, बल्कि अभूतपूर्व था। यहाँ समय की बाध्‍यता के साथ उन ताकतों की भी तलाश जरूरी थी, जो कि उन 42 खदानों से खुदाई करवा सकें, जहाँ पहले से ही खुदाई का काम चल रहा था। कोयला मंत्रालय के 'अतीत' और 'अविश्वास' के वातावरण ने इस कार्य को और भी कठिन बना दिया था, साथ ही कई स्तरों पर फाइलों की प्रतिबद्धता में भी अनिच्छा स्पष्ट होती थी। अत्यधिक जोखिम ने स्थिति को और भी खराब कर दिया था। लगभग कोई भी व्यक्ति जो कुछ था, उसका इस प्रक्रिया में दौंव पर लगा था। इसलिए जो कुछ भी हो रहा था, उस पर हर व्यक्ति की निगाह थी। हर कोई तुरंत परिणाम चाहता था। हालाँकि इसे करने का कुछ लोगों के पास तरीका भी था। कुछ वार्ताओं के उपरांत एक दल का गठन हुआ और एक संयुक्त सचिव स्तर के अधिकारी की नियुक्ति मनोनीत प्राधिकारी के रूप में की गई। वैसे, यह काम भी आसान नहीं था, क्योंकि यह भी बहस का मुद्दा था कि नियुक्त किया जानेवाला अधिकारी न्यायिक अधिकारी हो या प्रशासकीय अधिकारी हो। अंत में, मंत्रालय ने एक आई.ए.एस. अधिकारी विवेक भारद्वाज को उसका प्रभारी बनाया। कोल ब्लॉक की नीलामी की सफलता का श्रेय इन्हीं अधिकारी को जाता है, क्योंकि इन्हीं की इन विषयों की स्पष्ट समझ, अलग तरह के विचार, व्यवस्थित योजना और निवेशकों को तैयार करने में इसे सफलता दिलाई थी। बहुत से दस्तावेजों को अंतिम रूप देने और नीलामी की बोली को आँकने में सहायता करने हेतु स्टेट बैंक ऑफ इंडिया के आवरण को भी शामिल किया गया था। नीलामी की बोली के लिए मेटल स्ट्रैप ट्रेडिंग कॉरपोरेशन ने इलेक्ट्रॉनिक मंच तैयार किया था।

इसके लिए दो स्तर पर ऑनलाइन इलेक्ट्रॉनिक नीलामी की व्यवस्था की गई थी। बोली लगानेवालों के लिए इलेक्ट्रॉनिक प्रारूप पर कोयले के खानों की पूरे आँकड़े, जिनमें भौगोलिक सूचनाएँ भी शामिल थीं, उपलब्ध करा दी गई थीं। बोली लगानेवाले केवल उन्हीं खदानों में बोली लगा सकते थे, जिनके दस्तावेज उन्हींने ऑनलाइन खरीद रखे थे। इसके अलावा, बोली लगानेवालों के लिए अन्य पात्रता की भी आवश्यकता थी।

नीलामी प्रक्रिया के कारण ऊर्जा दर में इजाफा न हो, इसके लिए एक 'विपरीत नीलामी' तंत्र की व्यवस्था की गई थी, ताकि ऊर्जा क्षेत्र को नियमित किया जा सके। इस मामले में सफल बोलीकर्ता द्वारा निर्धारित दर इसकी परिवर्तित लागत निश्चित करता है। असंगठित क्षेत्र के लिए ही ऊपर उठती दर वाली नीलामी अपनाई गई थी। यहाँ राजस्व की वृद्धि ही इसका उद्देश्य था। नीलामी के प्रथम चरण में प्राथमिक दर प्रस्ताव के साथ तकनीकी बोली भी कोडीकृत रूप में एम.एस.टी.सी. इ-नीलामी के लिए जमा करना था। इसमें तकनीकी रूप से अर्हता वाले बोली लगानेवालों के आई.पी.ओ. ही खोले गए थे। उत्तीर्ण बोली लगानेवालों को अवरोही/आरोही क्रमानुसार रखा गया

था। इन आई.पी.ओ. में से ऊपर के केवल 50 प्रतिशत को ही इ-नीलामी में हिस्सेदारी की अनुमति प्रदान की गई थी।

इ-नीलामी के लिए तकनीकी रूप से उत्तीर्ण बोलीकर्ताओं के नए निम्न/उच्च दर ही उच्च/निम्न आई.पी.ओ. थी। शुरुआती इ-नीलामी विंडो सिर्फ दो घंटों के लिए स्वतः विस्तृत विकल्प के साथ 8 मिनटों के लिए प्रत्येक बोली के समाप्त होने तक ही बढ़ाई जा सकती थी।

इन नीलामी की कुंजी पारदर्शिता ही थी। सभी तकनीकी बोली, बोली लगानेवालों की मौजूदगी में ही खुलती थी और स्क्रीन पर दिखाई भी जाती थी। नीलामी की प्रक्रिया वेबसाइट पर लाइव प्रसारित होती थी।

नीलामी और आवंटन की यह सफल प्रक्रिया न केवल लोहा, स्टील, सीमेंट और ऊर्जा के अंतिम इस्तेमाल वाले क्षेत्रों की जरूरतों को पूरी करती थी, जिसमें कैप्टिव पावर प्लांट (सी.पी.पी.) भी शामिल है, बल्कि इ-नीलामी से संबंधित राज्य सरकारों के पर्याप्त राजस्व, रॉयल्टी एवं अग्रिम भुगतान भी प्राप्त होते थे।

यह व्यवस्था 'सहकारी संघवाद' का एक उत्कृष्ट उदाहरण थी, जिसमें राजस्व और लाभ राज्य सरकारों या उपभोक्ताओं को प्राप्त होता था। इसमें केंद्र सरकार को कुछ भी नहीं मिलता था। सभी संबंधित राज्य सरकारों को इसे समझाने के लिए आपसी संवाद भी होते रहते थे। इससे अध्यादेश को कानून बनने में तब और भी सहायता मिलती थी, जब कुछ राज्यों का केंद्र के साथ अन्य मुद्दों पर विरोध रहता था।

कोल ब्लॉक की नीलामी ने स्पष्ट रूप से यह दिखा दिया था कि सूचना प्रौद्योगिकी के पारदर्शी उपयोग से प्राकृतिक संसाधनों की वास्तविक कीमत का भी निर्धारण हो सकता था। एस.बी.आई. आवरण और एम.एस.टी.सी. जैसी विशेषज्ञ संस्थाओं के आउटसोर्स क्रियाकलापों ने भी इस आवंटन की सफलता में अपनी भूमिका निभाई थी। इसमें निवेशकों की रुचि ही इसका अंतर था और इसने हमें इसकी प्रक्रिया में तेजी लाने में सहयोग किया। वैसे इस समूह से गलतियाँ भी बहुत हुईं, मगर इन्हें स्वीकार किया गया और सुधारा भी गया। आखिर में, यह चल ही पड़ी।

□

कोयले की रियल स्टोरी

बहुत से लोगों को लगा और वे अभी भी सोचते हैं कि कोल ब्लॉक की सहज नीलामी प्रक्रिया ही 'कोयले की कहानी' थी। किंतु ऐसा नहीं था। कोल ब्लॉक नीलामी की प्रक्रिया का उद्देश्य प्राकृतिक संसाधन का वितरण था, जो कि बहुत ही मुश्किल था। वास्तव में, देश के सामने कोयले की कमी सबसे बड़ी समस्या थी और कोल ब्लॉक की नीलामी से कोयले के उत्पादन पर बहुत की कम प्रभाव पड़ता था।

भारत के पास अनुमानतः 300 अरब टन कोयले का भंडार है, फिर भी देश में कोयले की कमी है। वर्ष 2004 में ऊर्जा क्षेत्र के खुलने के परिणामस्वरूप कोयले की माँग में अचानक वृद्धि हुई। सन् 2006 में कोयले का आयात 21.7 मिलियन टन से बढ़कर 2014 में 131.3 मिलियन टन हो गया। कोयले की माँग और आपूर्ति के बीच का जो अंतर शुरुआत में बहुत ही कम था, उसमें बहुत ही तीव्र बढ़ोतरी हुई।

घरेलू माँग और आपूर्ति



(Source: Annual Plan, Ministry of Coal)

जब कोल ब्लॉक के आवंटन में छीना-झपटी चल रही थी, तब इसी कमी के कारण तथाकथित कोयला घोटाला भी सामने आया था।

जिस समय मैंने कोयला सचिव का पद-भार सँभाला, तब मेरी पहली प्राथमिकता कोल ब्लॉक की नीलामी की ही थी। हालाँकि कोयले की इस कमी की वजह का कोई भी अंदाज लगा सकता था। इस विषय में हुए शीघ्र आकलन ने देश में कोयले के उत्पादन के लिए निम्न कारणों को संकट की स्थिति में दर्शाया था—

1. भूमि अधिग्रहण
2. पर्यावरण और वन स्वीकृति
3. कोयले के परिवहन के लिए रेलवे लाइन की शुरुआत।

इस पूरी प्रक्रिया में राजनीति का प्रवेश भूमि अधिग्रहण को उत्तरोत्तर कठिन बनाता जा रहा था। वर्तमान कानून के कारण अधिकतर क्षेत्रों में एक रुकावट आ गई थी, जिनमें कोयला भी था। यहाँ तक कि कोयले की खदान के लिए भूमि अधिग्रहण कोल वियरिंग एरियाज (अधिग्रहण और विकास) ऐक्ट, 1957 के तहत लागू होता था। यह प्रक्रिया काफी हद तक राज्य सरकारों के हाथ में थी और वे तटस्थ होने के साथ-साथ अवसरों को पहचानने में भी अक्षम थे।

भूगर्भ विज्ञान के अनुसार, अधिकतर कोयले के भंडार वन क्षेत्रों में ही थे। इसलिए पर्यावरण और वन की अनुमति प्राप्त करने में एक लंबी प्रक्रिया शामिल होती है और इसमें कई स्तरों पर नौकरशाही भी शामिल है। केंद्र सरकार के पास अनुमति के लिए आने से पहले इसकी अधिकतर प्रक्रिया राज्य स्तरों पर ही की जाती थी।

यदि कोयले का परिवहन उपयोग करनेवाले उद्योगों तक नहीं हो पाया, तब इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि

इसका उत्पादन कितना हुआ था। कोयले का उपयोग करनेवाले अधिकतर उद्योग, जिनमें ऊर्जा संयंत्र भी शामिल हैं, इन खदानों से काफी दूर थे। कोयले से रेलवे की ढुलाई न केवल किफायती थी, बल्कि इससे पर्यावरण को भी नुकसान नहीं होता था। सभी कोयले की खदानें रेल मार्ग से जुड़ी थीं और जहाँ ये थीं, वहाँ रेकों की भी कमी थी। इन रेकों की एक बड़ी माँग अनाज और स्टील क्षेत्रों में भी थी।

उपर्युक्त समस्याओं के निदान के लिए उठाए गए कुछ कदम—

1. प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग ग्रुप के अनुभवों के इस्तेमाल एवं निरीक्षण के लिए वेब आधारित प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग पोर्टल तैयार करना और विभिन्न प्रकार की अनुमति के लिए प्रयास करते रहना। पोर्टल की सूचना वास्तविक समय के अनुरूप थी।

2. रेलवे मंत्रालय तथा पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के अधिकारियों के साथ निश्चित समय और तिथियों पर प्रतिमाह बैठकें होना।

3. विभिन्न मुद्दों के समाधान हेतु राज्यों के साथ दिल्ली में बैठकें आयोजित करने के बजाय राज्यों तक नियमित पहुँचना। इस प्रक्रिया से कार्यक्षेत्र में कार्यरत ऐसे बहुत से लोगों से मुलाकात के अवसर प्राप्त हुए, जो कि अनुमति हासिल करने की प्रक्रिया में सीधे तौर पर शामिल थे। इससे राज्यों का बेहतर प्रस्ताव प्रस्तुत करने में सहायता मिली। कोयले की खुदाई से राज्यों को कर के रूप में प्रचुर मात्रा में राजस्व के साथ-साथ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार उपलब्ध कराने के अवसर भी मिले।

4. निवेशकों के साथ कोयला उत्पादन की वृद्धि की योजना ने निर्णय के स्वामित्व को भी बल दिया।

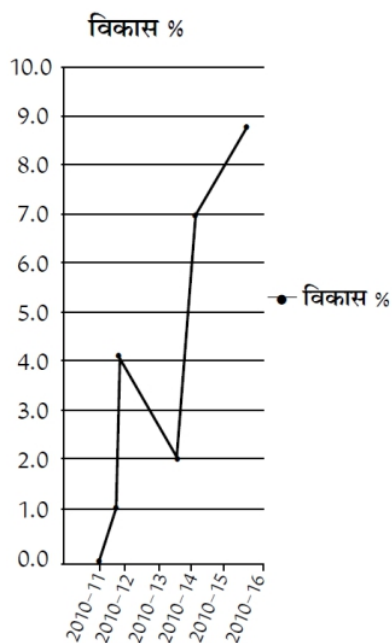
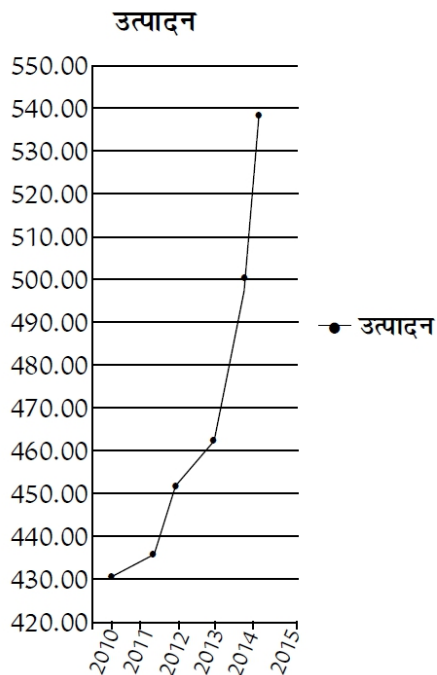
निम्नांकित प्रयासों के अभूतपूर्व प्रभाव—

1. वर्ष 2014-15 में कोल इंडिया लि. के द्वारा 5,500 हेक्टेयर भूमि अधिगृहीत की गई। पिछले कई वर्षों की अधिगृहीत भूमि का यह सबसे ऊँचा स्तर था। यह अधिग्रहण तब संभव हुआ, जब कि अन्य संगठन कुछ हेक्टेयर ही अधिगृहीत कर सके।

2. 3,400 हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र के लिए वन एवं पर्यावरण मंत्रालय से अनुमति प्राप्त हुई।

3. वर्ष 2014-15 में उपलब्ध 194 रेलवे रेकों की तुलना में वर्ष 2015-16 में 213 रेल उपलब्ध कराए गए। इससे रेलवे और कोयला दोनों ही क्षेत्रों को लाभ हुआ।

इन प्रयासों के परिणाम के तहत वर्ष 2014-15 में कोयले का उत्पादन बढ़कर 3.2 करोड़ टन हो चुका था। यह उत्पादन पिछले चार वर्षों के सम्मिलित उत्पादन, यानी 3.1 करोड़ टन से भी अधिक था। वर्ष 2014-15 और 2015-16 का सम्मिलित उत्पादन यानी 7.4 करोड़ टन पूरी ग्यारहवीं योजना के कुल उत्पादन के बराबर था।



कोयले के उत्पादन की इस वृद्धि के परिणामस्वरूप ताप शक्ति संयंत्रों की कोयले की औसतन संग्रह क्षमता बीस दिनों से अधिक की हो गई थी। केंद्रीय विद्युत् प्राधिकार को कोयले की कमी के कारण संयंत्र की स्थिति संकटग्रस्त नहीं लगी। वर्ष 2015-16 के दौरान कोयले का आयात भी काफी कम हुआ, जिसके परिणामस्वरूप 24,000 करोड़ रुपए से अधिक की विदेशी मुद्रा की बचत भी हुई।

‘दि इकोनॉमिक टाइम्स’ ने इस स्थिति को ‘बेहतरीन परिवर्तन’ की संज्ञा दी थी।

सी.ए.जी. के रूप में क्या विनोद की 'राय' गलत थी?

वर्ष 2004 और 2010 के बीच हुए कोल ब्लॉक आवंटन पर आई सी.ए.जी. की रिपोर्ट पर बहुत हो-हल्ला मचा और एक भ्रम की स्थिति पैदा हो गई थी।

जिस समय कोल ब्लॉक के आवंटन का ऑडिट हुआ था, उस समय विनोद राय सी.ए.जी. (महालेखा नियंत्रक) थे। उनकी रिपोर्ट के खिलाफ उठे कुछ सवालों के जवाब में उन्होंने अपनी पुस्तक 'नॉट जस्ट एन एकाउंटेंट' में कुछ प्रासंगिक सवाल उठाए थे, जैसे—“इस पूरे घटनाक्रम में सी.ए.जी. की गलती कहाँ थी? क्या कोयला मंत्रालय के ऑडिट का निर्णय या फिर ऑडिट रिपोर्ट को संसद् में पेश कर इसे सार्वजनिक करने का निर्णय?”

इन दोनों ही स्थितियों में सी.ए.जी. पूरी तरह सही थे, जिसमें उन्होंने कोल ब्लॉक आवंटन की प्रक्रिया की त्रुटियों पर उँगली उठाते हुए उसे 'अपारदर्शी' एवं 'स्वेच्छाचार' आधारित बताया था। फिर भी, क्या सी.ए.जी. का इसे सार्वजनिक राजकोष की हानि निर्धारित करना गलत था? सी.ए.जी. को जो सही लगता था, उसे सार्वजनिक करना क्या जरूरी था? क्या इससे एक ऐसा वातावरण निर्मित हुआ, जहाँ निर्णय लेना अधिक कठिन बन चुका था? ये कुछ ऐसे सवाल थे, जिन्हें उठाना चाहिए था, पर न तो ये पूछे गए और न ही इनका जवाब आया।

लगभग सभी लोगों को इन मुद्दों की विषमता के महत्त्व से अंधा बना दिया गया था; पर इनके लंबा खींचे जाने और इनके दिखाए जाने के असर को भुला दिया गया था।

उनकी पुस्तक में सी.ए.जी. की रिपोर्ट के आँकड़े और हिसाब निम्नलिखित रूप में हैं—

1. कोल इंडिया लि. का औसत विक्रय मूल्य : 1028 रुपए प्रति टन
2. कोयले की खुदाई की औसत लागत : 583 रुपए प्रति टन
3. वित्त प्रबंध लागत : 150 रुपए प्रति टन
4. आर्थिक लाभ अ-(ब+स) : 295 प्रति रुपए टन
5. निकास युक्त भंडार : 6,282 मीट्रिक टन
6. आर्थिक लाभ (डीएक्सई) : 1,80,000 करोड़ रुपए

आइए, इन सभी पहलुओं पर एक नजर डालते हैं। कोल इंडिया लि. द्वारा प्रस्तुत कोयले की खुदाई की लागत 400 रुपए से 4,000 रुपए प्रति टन के बीच है। लागत दर के इस बड़े अंतर के आधार पर सी.ए.जी. द्वारा निर्धारित की गई औसत लागत पूरी तरह से अनुपयुक्त थी। दरअसल, एक खान से दूसरी खान की खुदाई की लागत में बहुत से कारणों की वजह से अंतर आता है। ये मुद्दे छीलन, कोयले के स्तर और परिवहन लागत से संबंधित हैं और सी.ए.जी. के आकलन में इनकी पूरी तरह से अनदेखी हुई थी। इसके साथ ही, एक अन्य पहलू भी था। खुदाई की लागत के अलावा, उस समय के कोयला सचिव ने संसदीय समिति के सामने बताया कि सी.आई.एल. के कोयले क्षेत्रों और निजी क्षेत्र को दी गई खुदाई की खानों में काफी अंतर था। अतः सी.आई.एल. की संख्याओं को मानक के रूप में इस्तेमाल करना गलत था। यदि वर्ष 2014-15 में भारत के कोयला नियंत्रक द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों पर नजर डालें, तब यह स्पष्ट होता है कि सी.आई.एल. द्वारा खुदाई का 33.20 प्रतिशत कोयला अच्छी गुणवत्ता (1 से 9 स्तर) का था, जबकि निजी खुदाई करनेवालों का इस स्तर का कोयला सिर्फ 9.4 प्रतिशत ही था। इसी प्रकार, निजी क्षेत्र की खानों की छीलन का औसत कोल इंडिया की खानों से काफी ऊँचा था। वर्ष 2013-14 के दौरान कोल इंडिया का इसका प्रतिशत 1.89 और निजी ब्लॉकों का 3.46 था।

ऐसे आकलन ने उन खानों के निरस्तीकरण की तरफ प्रेरित किया, जिन्हें अभी तक कोई लेनेवाला नहीं है। सावधानीपूर्वक किए गए हिसाब से हर खान से लाभ निर्धारित हुआ होता; किंतु रिपोर्ट देने की शीघ्रता में औसत संख्याएँ ही इस्तेमाल की गई थीं। यदि तथ्यों पर आधारित अलग-अलग खदानों का आकलन होता, तब केवल उन्हीं खदानों का निरस्तीकरण होता, जहाँ अप्रत्याशित लाभ था। परिणामतः उन भूमिगत खदानों का भी निरस्तीकरण हुआ, जहाँ खुदाई की लागत बहुत ही अधिक थी। विचित्रता यह है कि आज भी इन खदानों को लेनेवाला कोई नहीं है। वैसे, वाकई कुछ ऐसी खदानें भी थीं, जहाँ लाभ का प्रतिशत बहुत ही अधिक था और ऐसी खदानों का निरस्तीकरण आवश्यक था; परंतु सभी आवंटन, स्टॉक और बैरल जहाँ-के-तहाँ रोक दिए गए थे।

अगला तार्किक सवाल होगा कि यदि मार्जिन बहुत अधिक नहीं हो, तब सरकार ने केवल 31 खदानों की नीलामी से 1.96 लाख करोड़ रुपए के लाभ का अनुमान कैसे लगाया और यह नीलामी वर्ष 2015 में हुई थी। हमें इन नीलामी के संदर्भों पर नजर डालनी चाहिए। इन नीलामी की बोली को निर्धारित करनेवाले कारण निम्नलिखित थे—

1. देश में कोयले की वास्तविक कमी का अंदाज लगाना।
2. आयातित कोयले के मूल्य और उपलब्धता की अनिश्चितता।
3. स्थायी परिसंपत्तियाँ, जैसे—ऊर्जा/स्टील संयंत्र, जो कि उत्पादन के लिए तैयार थे। इन पर किया गया व्यय, जबकि बाद में ब्लॉकों के आवंटन निरस्त कर दिए गए थे।
4. कोल ब्लॉकों की भविष्य में उपलब्धता की अनिश्चितता।

उपर्युक्त सभी कारणों के कारण अधिकतर ब्लॉकों की नीलामी 'अतार्किक बोली' के साथ हुई थी और निम्नांकित बिंदु इसका समर्थन करते हैं—

अ. आवंटित हो चुके कोल ब्लॉकों से 5.6 करोड़ टन उत्पादन की उम्मीद की गई थी, परंतु अब तक सिर्फ 1.6 करोड़ टन ही उत्पादन हुआ था। वास्तव में, बहुत से कोल ब्लॉकों में अभी तक उत्पादन की शुरुआत भी नहीं हुई थी।

ब. कुछ आवंटि अपनी स्थिति से बाहर निकलने की युक्ति के लिए न्यायालय की शरण में भी चले गए थे।

विचित्रता यह है कि वर्ष 2016 में चौथे चक्र के दौरान मुश्किल से ही कोई लेनेवाला बचा था। यहाँ तक कि इसके बाद कोई नीलामी भी नहीं हुई, जबकि 120 ब्लॉक अभी भी बचे हुए हैं। सी.ए.जी. के अनुमान के अनुसार, अभी भी इन कोल ब्लॉकों में 3.13 लाख करोड़ रुपए होंगे। यदि इनका मार्जिन 295 रुपए प्रति टन था, तब इन आवंटनों को लेनेवाले क्यों नहीं थे?

सी.ए.जी. भारत में उपलब्ध कोयले की कीमत पर कोल इंडिया के उत्पादन के प्रभाव का अंदाज नहीं लगा सके थे। जब कोयले का उत्पादन बढ़ा और इसकी उपलब्धता सुधरी, तब कोल इंडिया के आवंटन के दामों में काफी कमी आई। इस स्थिति ने उन उद्यमियों की इच्छा पर असर डाला, जो कि इन कोल ब्लॉकों को लेने गए थे। सी.ए.जी. द्वारा निर्धारित 295 रुपए प्रति टन की तथाकथित मार्जिन भी नहीं थी। वैसे, इस पर बहस भी हो चुकी थी कि क्या हर ब्लॉक पर इस तरह की मार्जिन कभी उपलब्ध भी थी? इन सभी ब्लॉकों को एक साथ मिलाकर सही या गलत का निर्धारण करें, तब पता चलता है कि एक बड़ा नुकसान हो चुका था। वास्तविकता यह है कि कुछ ब्लॉकों की नीलामी 295 रुपए प्रति टन से अधिक पर हुई थी, पर इससे सभी ब्लॉकों पर होनेवाले अप्रत्याशित लाभ के निर्धारण को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता है। एक अच्छे लेखा परीक्षक (न कि लेखाकार) के रूप में प्रत्येक ब्लॉक के विवरण अलग होने चाहिए। ऐसी स्थितियों में औसत सही काम नहीं करता है।

विनोद राय अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि जो भी रिकॉर्ड दिखलाए गए थे, वे समिति आधारित, जान-बूझकर और कंपनी को आवंटित ब्लॉक के नाम के साथ उन राज्यों के बारे में बताते थे, जहाँ पर संयंत्र लगे हुए थे। विनोद राय को इसमें त्रुटि नजर आई। एक पूर्व नौकरशाह के रूप में उन्हें यह पता होना चाहिए कि कार्य विवरण कैसे तैयार किए जाते हैं। खासतौर से तब, जब सर्वसम्मति थी। ऐसा केवल तब होता है, जब वैचारिक अंतर को और तर्कों को अस्वीकृत किया गया हो। ऐसा मालूम पड़ता था कि सी.ए.जी. सिर्फ त्रुटि तलाशने के मिशन पर थे; किंतु त्रुटियाँ तलाशने के अतिरिक्त, जहाँ त्रुटियाँ नहीं थीं, उसे भी देखना चाहिए था।

एक लोक-सेवक का काम, और सी.ए.जी. के रूप में तो और भी अधिक, शोरगुल से न होकर शांति के साथ होना चाहिए। देश के मूड को भाँपते हुए सी.ए.जी. की रिपोर्ट प्रेस वार्ता में प्रस्तुत की गई थी। मीडिया के सामने पेश करते हुए डिप्टी सी.ए.जी. की वह छवि सभी के मस्तिष्क में अंकित हो चुकी थी। वाकई यह गलत हुआ था। सी.ए.जी. का काम गलतियों को ढूँढ़ना है, साथ ही उसका काम इन गलतियों के बारे में संसद् को सूचित करना भी है। वैसे, शायद रिपोर्ट को सार्वजनिक करना एक लोक-सेवक का काम नहीं है। 'नॉट जस्ट एन एकाउंटेंट' में विनोद राय मीडिया के सामने जाने को न्यायसंगत ठहराते हैं। वे ऐसा करना सही मानते थे। हालाँकि उन्होंने इसे इस रूप में प्रदर्शित किया था कि जैसे यह प्रेस वार्ता सी.ए.जी. ने बुलाई थी। उन्होंने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर दिया कि आगे भी सी.ए.जी. विनोद राय बनने की कोशिश करेंगे। उनके तुरंत बाद वाले सी.ए.जी. ने भी ऐसा करने की कोशिश की थी; पर उन्हें अधिक मजबूत सरकार का सामना करना पड़ा।

यदि सी.ए.जी. ने हर खदान के बारे में भली प्रकार जानकारी हासिल की होती और उसके 'अर्थशास्त्र' पर ध्यान

न दिया होता, तब परिणामस्वरूप लिये गए निर्णयों का असर इतना भयावह न होता। नौकरशाही की निर्णय प्रक्रिया बहुत ही बुरी स्थिति में थी। वैसे, यह बहस का मुद्दा है कि क्या सी.ए.जी. द्वारा प्रस्तुत यह उच्च स्तरीय रिपोर्ट तंत्र को सुधारने के लिए आवश्यक थी। कोल ब्लॉक में आई बाढ़ की नीलामी में पारदर्शिता को बहुत अधिक श्रेय दिया गया था। यह पारदर्शिता नई सरकार की प्रतिबद्धता की वजह से संभव हुई थी। यह पारदर्शिता उन क्षेत्रों में भी आई थी, जहाँ सी.ए.जी. की कोई भूमिका नहीं थी।

मि. पी.सी. परख ने अपनी पुस्तक 'द कोल कॉननड्रम' में सी.ए.जी. के प्रति उदारता बरतते हुए लिखा है —“सी.ए.जी. के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने अनुमानों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए गणितीय स्वीकृत आँकड़ों तक पहुँचे।” हालाँकि मेरे अनुसार यही समस्या थी। सी.ए.जी. ने बिना विस्तृत जानकारी हासिल किए ही आँकड़ों पर भरोसा कर लिया था। यही वे आँकड़े थे, जिन्होंने 'सूनामी' पैदा कर दी थी और इन्हीं पर ध्यान दिया गया तथा व्यवहार भी किया गया। यदि इनका आकलन खदानों के अनुरूप किया गया होता, तब अर्थव्यवस्था का इतना अधिक नुकसान न होता। रही बात नौकरशाही की समझ और मि. परख जैसे ईमानदार लोक-सेवक की, जिन्होंने न्यायालय को दोष दिया, बल्कि उन्हें नहीं जिन्होंने इसे शुरू किया था।

आइए, सी.ए.जी. की रिपोर्ट के परिणामों पर एक नजर डालते हैं—

1. फाइलों के प्रति प्रतिबद्धता से अधिकारी दूर हुए। उन्होंने 'सुरक्षित' रहना ही उचित समझा। यह स्थिति नीलामी की बोलियों की जाँच करते समय स्पष्ट थी। इन बोलियों पर ठोस अनुशांसा सचिव स्तर पर ही हुई।
2. यह अनुमान लगाया गया कि इन आवंटनों के बाद कोयले के उत्पादन में वृद्धि होगी, परंतु ऐसा नहीं था। वास्तव में, नीलामी के बाद कोयले का उत्पादन अनुमानित उत्पादन से काफी कम हुआ था। कोल इंडिया लि. के उत्पादन में हुई अप्रत्याशित वृद्धि से देश में कोयले की स्थिति में सुधार हुआ; पर इसका सी.ए.जी. की रिपोर्ट से कुछ भी लेना-देना नहीं था।
3. सी.ए.जी. की रिपोर्ट ने उन अधिकारियों पर दोष-सिद्धि का काम किया, जिनकी छवि बेदाग थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री, जिन्होंने कोयला मंत्री की भूमिका निभाते हुए कोल ब्लॉकों के आवंटन के प्रस्ताव को सहमति प्रदान करते हुए स्वयं को इस प्रक्रिया से आसानी से अलग रखा था। वैसे इन सभी स्थितियों के लिए सी.ए.जी. को दोष नहीं दिया जा सकता है, परंतु उन्होंने इस भयावह परिणाम की स्थिति तैयार की थी।

चाय की प्याली के तूफान ने सूनामी पैदा की

“केवल नेताओं को ही दोष क्यों दिया जाए, जबकि निर्णय लेने में अवरोध ‘सी’ भी करते हैं।”—कोयला सचिव ये सुखिर्वाँ एक प्रमुख दैनिक की थीं और इसने प्रतिक्रियाओं की सूनामी पैदा कर दी थी। शायद हर किसी ने इसे महसूस किया था, पर किसी में भी इसे कहने का साहस नहीं था। इसकी शुरुआत फेसबुक और ट्विटर पर छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ हुई थी—

“शांति की प्रक्रिया पर एक बेईमान का उतना अधिक असर नहीं पड़ता, जितना कि इसके अंतर्निहित कारक डालते हैं, जो कि एक ईमानदार को निर्णय लेने से रोकते हैं।”

यह वाक्य मेरे दिल से निकला था और फिर नेट के माध्यम से फैला भी; हालाँकि यह अभी भी चाय की प्याली का तूफान ही था। किंतु फेसबुक पर आई इसके बाद की विवेचना ने एक सूनामी पैदा कर दी और इसने देश के शासन-तंत्र पर असर डाला—

“हम सभी तरह की बुराइयों के लिए राजनेताओं को दोष दे देते हैं, पर क्या यह सच नहीं है कि 5 सी (सी.बी.आई., सी.बी.सी., सी.ए.जी., सी.आई.सी. और कोर्ट्स) एक ऐसा अवरोधी माहौल तैयार करने में सहायक होते हैं, जिनमें त्वरित एवं प्रभावशाली निर्णय लेने की प्रक्रिया प्रभावित होती है और इसका विकास पर प्रभाव पड़ता है। विचित्र बात यह है कि इन सभी संस्थानों पर राजनेता नहीं, बल्कि नौकरशाह काबिज रहते हैं।”

उपयुक्त कथन के समर्थन में एक बड़ी प्रतिक्रिया आई थी। एक पूर्व कैबिनेट सचिव की टिप्पणी थी, “अनिल स्वरूप बिल्कुल सही हैं। स्थितियों को बुरा बनाने के लिए ‘सी’ ने पिछले कुछ वर्षों में अधिक-से-अधिक ध्यान आकर्षित करने का काम शुरू किया है।” एक सचिव, जो कि सत्ता के बहुत नजदीक जाने जाते हैं, उनकी टिप्पणी थी, “आपने फेसबुक पर बहुत ही बहादुरी भरा बयान दिया है। शाबाश!” एक अन्य सचिव, जो कि उतने ही स्पष्ट थे, “वाकई एक बहादुरी भरा बयान है, अनिल। चीयर्स, तुम नौकरशाहों की छवि बदल रहे हो!” डब्ल्यू.टी.ओ. के एक पूर्व राजनयिक का बयान था कि “बहुत अच्छा अनिल, तुमने सीधे सिर में कील ठोक दी है।” एक सेवानिवृत्त आई.पी.एस. अधिकारी, जो कि सी.बी.आई. के साथ काम कर चुके थे, वे भी अपने इस बयान के साथ सहमत थे, “सी.बी.आई. के अपने लंबे अनुभव के आधार पर मैं अनिल के दृष्टिकोण से पूरी तरह से सहमत हूँ।” केंद्रीय पैरामिलिट्री फोर्स के प्रमुख रहे एक अन्य आई.पी.एस. अधिकारी ने भी टिप्पणी की, “वह सही हैं। हमने अकसर इस विषय पर चर्चा की है। केवल हमारा ही देश ऐसा है, जहाँ उपर्युक्त हस्तियाँ, जिन्हें सही अर्थों में ‘टिप्पणीकार’ कहा गया, वे इस खेल के खिलाड़ियों से अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं या दूसरे अर्थों में कहा जाए तो निदान वाले चिकित्सकों की तुलना में शव-परीक्षण वाले अधिक महत्वपूर्ण हैं।”

सबसे अधिक रोचक तो यह था कि सी.ए.जी. के ही एक पूर्व डी.जी. ने मुझे इस मुद्दे को उठाने के लिए बधाई देते हुए कहा, “प्रासंगिक मुद्दे, जो कि सरकार के तीव्र और बेहतर निर्णयों में अवरोध उत्पन्न करते हैं, उन्हें उठाने के लिए बधाइयाँ!”

बहुत से कैबिनेट मंत्रियों ने भी इस मुद्दे को उठाने के लिए मुझे फोन पर बधाई दी।

मैंने इस मुद्दे को बहुत ही उचित ढंग से उठाया था, जबकि मैं अभी भी नौकरी में ही था। इन संस्थानों का प्रबंधन करनेवाले कुछ लोगों ने लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अति उत्साहित होकर उन-उन लोगों के प्रयासों को खत्म कर दिया था, जो कि लोक सेवा में पीछे छूट गए थे और निर्णय लेने की प्रक्रिया को निरंतर रूप से उन्होंने और भी कठिन बना दिया था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि शासन को परेशानी हुई और यह सी.ए.जी. के द्वारा उत्पन्न की गई तबाही से निरंतर रूप से परेशान रहा, जो कि बहुत दूर की घटना नहीं थी। यह स्थिति कोयला मंत्रालय में भी नजर आ रही थी, जहाँ मैं विनाशकारी दल द्वारा किए गए भयावह विनाश के बाद कुछ निर्माण करना चाहता था।

मशहूर होने की चाहत

धनी और मशहूर होने में कुछ भी गलत नहीं है। बहुत से लोगों में इस तरह की आकांक्षा होती है। लोक-सेवकों के साथ भी यह सच है। हालाँकि बहुत से लोक-सेवकों को धनी बनने की काफी महँगी कीमत चुकानी पड़ती है, परंतु मशहूर होने में ऐसा नहीं है। हम ऐसे ही एक मशहूर चुनाव आयुक्त के बारे में जानते हैं। परंतु लोक-सेवक के रूप में जो उन्होंने किया, उससे वे मशहूर नहीं हुए थे, बल्कि उन्होंने अपनी सिंह सदृश छवि तब बनाई थी, जब वे एक संवैधानिक पद पर सुरक्षित रूप से विद्यमान थे और जिसके बाद उसका कोई भविष्य नहीं था। अतः वे देहाड़ सकते थे और मशहूर भी हुए। हालाँकि जब तक वे नौकरी में थे, उन्होंने ऐसा नहीं किया। सी.ए.जी., जिसने 'कोयला घोटाला' उजागर किया था, वह इसमें एक कदम आगे बढ़ी और दूसरों की कमियाँ तलाश कर मशहूर हुआ। उसे ऐसा करने का मौका मिला और उसने इसका लाभ उठाया। वह अपना काम शांति से कर सकता था, मगर उसने हीरो बनने का विकल्प चुना और वह वाकई बन भी गया। उसकी खोज विपक्ष के अनुकूल थी और उसे इसका फायदा भी मिला। चूँकि उनके इस काम पर सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी मुहर लगा दी थी, इसलिए उनके काम पर किसी ने भी सवाल नहीं उठाए। उन्होंने जो कुछ भी कहा, उससे एक सूनामी पैदा हुई, जो अपने साथ कई ताकतवर लोगों को बहा ले गई। केवल बाद की स्थिति ही उनके कथन की वास्तविकता तय करेगी; परंतु जो लक्षण उन्होंने छोड़े, उसने निर्णय की प्रक्रिया को नुकसान पहुँचाया था। वैसे, उनके दृष्टिकोण और खोज ने निर्णय लेने की प्रक्रिया में अति भयावह भय का काम किया था। हालाँकि उनकी इस सफलता से मोहित होकर उनके बाद वाले ने ऐसी ही सफलता दोहराने का प्रयास किया था, क्योंकि मशहूर होने का यह बिल्कुल ही सीधा रास्ता था।

वर्षों में बनी सी.ए.जी. की विश्वसनीयता का लाभ उठाते हुए ऐसे भी लोग थे, जो कि अर्धसत्य और तथ्यों की त्रुटिपूर्ण व्याख्या के आधार पर निर्णय पर पहुँचने में व्यस्त थे। वे गलतियाँ तलाशने के मिशन पर होने के साथ इतराते हुए मशहूर होना चाहते थे। इसके अलावा, इस दृष्टिकोण को बता सकने का और कोई कारण नहीं था।

कोल ब्लॉक की नीलामी सन् 2014 के अगस्त और सितंबर के महीने के सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर हुई थी और यह पारदर्शी भी थी। यह प्रक्रिया पूरी तरह से संतोषजनक थी और समय पर पूरी हुई थी। हालाँकि त्रुटि तलाशनेवाला सी.ए.जी. का तंत्र अलग ढंग से ही सोच रहा था। मुख्य लेखा परीक्षकों का दल अभी भी त्रुटि तलाशने के मिशन पर ही लगा रहा।

सी.ए.जी. द्वारा ऑडिट किए जाने के आदेशों की नियमावली स्पष्ट रूप से दर्शाती है, “जो मामले विचाराधीन हों या उन्हें मध्यस्थता के लिए भेजा गया हो, वे दावों के पूर्वग्रह को दर्शाते हुए नहीं प्रस्तुत किए जाएँगे।” हालाँकि जो मामले विचाराधीन थे, उन पर केवल टिप्पणी ही नहीं की गई, बल्कि बोली लगानेवालों के आवेदन में इस्तेमाल तर्क भी ऑडिट के लिए प्रस्तुत किए गए थे। कुछ पृष्ठताछ पर सी.ए.जी. से प्रत्युत्तर का भी अनुरोध किया गया था। विचाराधीन मामले को उसकी जाँच के लिए क्यों सौंपा गया था? इस पर सी.ए.जी. ने किसी तरह का स्पष्टीकरण देने से मना कर दिया था, इसलिए इस मामले को अर्जेंट जनरल को सौंपा गया, जिनके अनुसार, “विचाराधीन मामलों पर टिप्पणियाँ रिपोर्ट का हिस्सा नहीं बन सकती हैं।”

सी.ए.जी. ने अपनी रिपोर्ट में कोयले की खदानों के पुनः परीक्षण के लिए अपनाई गई पद्धति पर अवलोकन प्रस्तुत किया था और उसमें बताया था कि इस क्षेत्र में प्रबंधन में सुधार के लिए दिशा-निर्देशों की जरूरत है और यह सभी मामलों में लागू होना चाहिए। अर्जेंट जनरल के अनुसार, “नीलामी/टेंडर प्रक्रिया को निरस्त करने का पूर्ण अधिकार टेंडर प्राधिकारी के पास ही है। यह भी तय था कि निचले या अन्य स्तर की निविदा को अस्वीकार करने का अधिकार हमेशा से ही सरकार के पास था। यदि सरकार इस तरह का दिशा-निर्देश दे तो आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए पूर्ण अधिकार को कम करेगी।” (सरकार का दृष्टिकोण न्यायसंगत माना गया, क्योंकि न्यायालय ने भी सभी मुद्दों पर इस दृष्टिकोण का समर्थन किया था।)

यहाँ तक कि एक संगठन के रूप में सी.ए.जी. द्वारा स्वयं ही दी गई निविदाओं को सी.ए.जी. को बिना कारण बताए ही अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया था। विचित्रता यह है कि कोयला मंत्रालय को निविदाओं के निरस्तीकरण के दिशा-निर्देशों के परामर्श के तुरंत बाद ही सी.ए.जी. ने 27 जुलाई, 2016 को निविदा सूचना जारी की थी, जिसके अनुसार “उसके पास स्वीकार की गई सभी निविदाओं को बिना कारण बताए अस्वीकार करने का अधिकार सुरक्षित है।” अभी भी सी.ए.जी. कुछ मामलों और नीलामी की बोलियों के पुनः परीक्षण पर प्रश्न उठाता

था।

इसी मसौदे में सी.ए.जी. एक कदम और भी आगे बढ़ा था। इस निविदा दस्तावेज में एक शर्त थी, जिसके अनुसार तकनीकी रूप से योग्य बोली लगानेवालों के 50 प्रतिशत को ही द्वितीय स्तर की बोली लगाने की अनुमति प्रदान की गई थी। सी.ए.जी. के अनुसार, यह प्रतिस्पर्धा को सीमित करेगी।

उपर्युक्त प्रक्रिया काफी विचार-विमर्श के बाद लागू की गई थी तथा यह बोली की प्रक्रिया के तार्किक आकलन पर आधारित थी। अंतिम नीलामी से पहले बाहर हो जाने के भय से नीलामीकर्ताओं को आपस में मिलकर बोली लगाने या प्रारंभिक प्रस्तावित कीमत को बहुत अधिक दर पर बोली लगाने की अनुमति नहीं थी। इस नई पद्धति के परिणामस्वरूप अधिक प्रतिस्पर्धा के प्रोत्साहन से कोयले की खदानों के अधिक दाम हासिल हुए। इस मुद्दे को भी समादेश याचिका में उठाया गया था। दिल्ली उच्च न्यायालय में दाखिल याचिका संख्या 1384/2015 मैसर्स शारदा एनर्जी एंड मिनरल्स लि. बनाम यूनियन ऑफ इंडिया में निर्णय आया कि “प्रतिवादी के द्वारा अपनाई गई पद्धति ने बेहतर कार्य किया।” अटॉर्नी जनरल ने भी इस पर स्पष्ट राय दी, “कोयला मंत्रालय द्वारा अपनाई गई आवंटन पद्धति किसी भी तरह से गैर-कानूनी नहीं है।” उच्च न्यायालय के स्पष्ट फैसले के बावजूद सी.ए.जी. ने उस प्रक्रिया पर सवाल उठाए थे, जिसने बेहतर काम किया था।

ऑडिट भी यह सराहना करने में असफल रही कि विपणन के अनुरूप आवंटन पद्धति में किसी तरह की सूचनाओं की विषमता नहीं थी और इस पूर्ण पारदर्शी व्यवस्था में बाजार की ताकतों ने ही संपदा की वास्तविक कीमत निर्धारित की थी। फ्लोर/रिजर्व मूल्य निर्देशात्मक होने के साथ-साथ धारणा-युक्त भी थे। कोयले का मूल्यांकन आर्थिक मामलों की कैबिनेट समिति (सी.सी.ई.ए.) के द्वारा प्रस्तावित पद्धति के अनुसार कठोरतापूर्वक किया गया था और यह कच्चे कोयले पर आधारित था, न कि धुले हुए कोयले पर और इसका मूल्य भी मोल-भाव पर न होकर अधिसूचित था। ऑडिट ने दिल्ली उच्च न्यायालय के फैसले को सम्मान न देने का विकल्प चुना, जिसमें बहुत सी मिली-जुली कंपनियों या आनुषंगिक कंपनियों के द्वारा लगाई गई बहुत सी नीलामी की बोलियों का मामला था।

तथ्यात्मक त्रुटियों के अलावा बहुत सी कोयले की खदानों या सी.सी.ई.ए. के निर्णय निरस्त किए गए थे, जिससे लगता था कि ऑडिट उस कानून को पढ़ने में असफल था, जिसने एक कंपनी को पूर्व आवंटि माना और जहाँ यह कानून लागू नहीं हुआ। यहाँ तक कि कानून में प्रस्तुत परिभाषा पर भी ध्यान नहीं दिया गया था। रिपोर्ट का कुछ हिस्सा न्यायालय में कुछ असफल बोली लगानेवालों की याचिका की प्रतिध्वनि देता मालूम पड़ा। नीलामी की नवीन प्रक्रिया, जैसे दो स्तर वाली बोली लगाने की प्रक्रिया या वापसी की बोली की प्रक्रिया, ऑडिट द्वारा न तो पूरी तरह से समझाई गई और न ही उसकी सराहना की गई।

रिपोर्ट का मसौदा पढ़ने पर यह स्पष्ट था कि सी.ए.जी. जिस निष्कर्ष पर पहुँचा था, वे त्रुटिपूर्ण तथ्यों, अर्धसत्य और प्रक्रिया को पूरी तरह से न समझ पाने पर आधारित था। ऑडिट की पूरी प्रक्रिया का पूर्वग्रह स्पष्ट था। यह आवंटन प्रक्रिया 90 दिनों से भी कम समय में पूरी हो चुकी थी; जबकि इस ऑडिट में सात महीने से अधिक का समय लगा था। 26 फरवरी को यह संशोधित ऑडिट रिपोर्ट आगे भेजी गई और 98 पृष्ठ एवं 9 अध्यायों तथा अनेक आकलन वाली रिपोर्ट पर 11 मार्च, 2016 यानी दो हफ्तों के भीतर ही इस पर टिप्पणी माँगी गई थी। इसमें यह भी उल्लिखित था कि यदि किसी भी तरह की टिप्पणी नहीं प्राप्त हुई, तब वे इसी रिपोर्ट के साथ आगे बढ़ने के लिए बाध्य होंगे। इन जानकारीयों के लिए मंत्रालय से विस्तृत प्रत्युत्तर की आवश्यकता थी। पहली ऑडिट रिपोर्ट 8 जनवरी, 2016 को मंत्रालय भेजी गई। इस रिपोर्ट को जमा करने की सारी जल्दबाजी संसद् के बजट सत्र के दौरान ही दिखाई गई थी, जिसका कारण संभवतः इससे अधिकतम लाभ हासिल करने का था। हालाँकि यह एक अपराध की तरह लग रहा था, पर वास्तव में यह सब अपराध नहीं था, बल्कि इसकी पृष्ठभूमि में उच्च कानून अधिकारियों की राय थी तथा ऑडिट की शुरुआती प्राप्तिyों ने काम नहीं किया।

वाकई, कोई मशहूर होने की कोशिश कर रहा था। वैसे, इस अवसर पर ऐसा होना नहीं चाहिए था। इस समय सी.ए.जी. एक अति दृढ़ सरकार के खिलाफ खड़ा था, जो कि ऐसे हलके आरोपों को लेने की मनःस्थिति में नहीं था। इस रिपोर्ट के प्रमाण अटॉर्नी-जीनरल की टिप्पणियों का विरोध कर रहे थे। सी.ए.जी. को अपनी अंतिम रिपोर्ट में पूरी तरह से पीछे हटना पड़ा।

स्कूली शिक्षा का चौधियाता प्रकाश

जब मैंने सुना कि मैं कोयले की खानों की अँधेरी काल कोठरी से हटाकर स्कूली शिक्षा के चमकदार प्रकाश में भेजा जा रहा हूँ, तब यह मुझे ईश्वर की कृपा ही लगी। मेरा पद सचिव, स्कूली शिक्षा और साक्षरता का था। शीघ्र ही मुझे पता चल गया कि जिस तरह कोयले के क्षेत्र में खदानें तो भूमिगत थीं, पर माफिया ऊपर से संचालन करते थे, पर स्कूली शिक्षा की 'खदानों' में बिल्कुल ही इसका उलटा था। यहाँ माफिया भूमिगत थे और उनके चेहरों पर मुखौटे लगे थे और यह मुखौटा 'विशालकाय शरीफ लोगों' का था। कोयले के क्षेत्र में मेरा सामना कुछ एक माफियाओं से भी हुआ था और इस क्षेत्र को व्यवस्थित करने में मुझे कुछ हद तक सफलता भी मिली थी; पर यहाँ इन 'विशालकाय शरीफों' को सँभालने का काम था। यह काम अधिक कठिन था, क्योंकि यहाँ शिक्षा के अदृश्य घोटालों के खिलाफ लोगों की नाराजगी नहीं थी, जैसे कि कोयले के मामले में थी। यहाँ हर चीज व्यवस्थित मालूम पड़ रही थी। स्थिति को और भी खराब करने के लिए पिछले ढाई वर्षों में 'सचिव' का यह पद सँभालनेवालों में मैं पाँचवाँ व्यक्ति था। मेरे अधिकतर पूर्व कर्मियों की शिक्षा के क्षेत्र में तृटिहीन विशेषताएँ थीं; पर या तो वे यहाँ टिक नहीं सके या फिर उन्हें टिकने नहीं दिया गया था। सरकार को इस क्षेत्र को सँभालने के लिए मुझमें सबसे 'अशिक्षित व्यक्ति' नजर आया, क्योंकि मैंने इस क्षेत्र में कभी काम नहीं किया था, सिवाय उन संक्षिप्त तीन महीनों के, जो मैंने उत्तर प्रदेश में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में बिताए थे।

यह कहना न्यूनोक्ति होगी कि शिक्षा का क्षेत्र बुरी स्थिति में था। वाकई इस क्षेत्र में सरकार के द्वारा किए गए सभी निवेश खासतौर से मध्याह्न भोजन में हुए निवेश, के परिणामस्वरूप बच्चे स्कूल आए। किंतु मंत्री पद पर रहते हुए प्रकाश जावड़ेकर अकसर कहते थे कि इसका सिर्फ एक ही परिणाम था (आना-खाना-जाना) और बहुत ही कम शिक्षा प्रदान की गई थी। सरकारी स्कूलों में बच्चों के गिरते पंजीयन का प्रतिशत वर्ष 2007 में 72.9 से 2014 में 63.1 हो गया था। बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार का कानून वर्ष 2009 भी बहुत कुछ न कर सका। प्राथमिक स्कूलों में शिक्षकों की संख्या में भी उछाल आया और वर्ष 1998-99 की 31.82 लाख की पद संख्या 2014-15 में बढ़कर 46.84 लाख हो गई तथा प्राइमरी स्कूलों में इससे विद्यार्थी-शिक्षक का अनुपात भी 42:1 से 24:1 हो गया, फिर भी शिक्षा के स्तर में मामूली असर ही दिखा। इसके मूल्यांकन से पता चला कि शिक्षा की स्थिति और भी बुरी हुई है। कक्षा पाँच के ऐसे बच्चों की संख्या में कमी आई थी, जो कि कक्षा दो की पाठ्य-पुस्तकें पढ़ सकते थे। यह आँकड़ा सन् 2007 में 56.7 प्रतिशत से घटकर 2014 में 42.2 प्रतिशत हो गया था। गणित में स्थिति और भी खराब थी। कक्षा पाँच के विद्यार्थी जो भाग दे सकते थे, उनका प्रतिशत 41 से 20.7 हो गया था। वर्ष 2014-15 के दौरान स्कूली शिक्षा में आवंटित बजट 55,115 करोड़ रुपए का था। जी.डी.पी. के प्रतिशत के रूप में यह संपूर्ण बजट का 0.52 प्रतिशत और 3.07 प्रतिशत था। बाद के वर्षों में यह राशि और भी घट गई थी, यहाँ तक कि वर्ष 2016-17 में आवंटित रकम 43,554 करोड़ रुपए थी, जो कि वर्ष 2014-15 से भी कम थी। जी.डी.पी. के प्रतिशत के रूप में यह बजट का 0.36 प्रतिशत और 2.16 प्रतिशत हो गई थी।

मानव संसाधन के स्तर पर भी स्थिति संकटग्रस्त थी। वर्ष 2014 से 2016 के बीच विभाग के पास पाँच सचिव थे। इस दौरान बहुत से संयुक्त सचिव भी बदले गए थे। मेरे समय में यह म्यूजिकल चेयर वाली स्थिति थी और यह भी अफवाह थी कि उत्तर प्रदेश में सिर्फ एक ही उद्योग फल-फूल रहा था और वह था—स्थानांतरण उद्योग।

देश के दो बड़े राज्यों में उच्च स्तरीय प्रबंधन एक खास पद्धति का ही अनुसरण करता था। उत्तर प्रदेश में दो अतिरिक्त मुख्य सचिव स्तर के अधिकारी स्कूली शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा को अलग-अलग सँभाल रहे थे, जिसके कारण समन्वय की एक बड़ी समस्या उत्पन्न होती थी। बिहार में एक ही अधिकारी शिक्षा और स्वास्थ्य विभाग सँभालता था, परिणामतः स्वास्थ्य विभाग की भी स्थिति खराब थी।

यह एक बड़ा संकट था। कोयले के क्षेत्र को प्रकाशित रखना एक बड़ी चुनौती थी; परंतु शीघ्र ही यह पता चल गया कि शिक्षा के क्षेत्र में अधिक संलिप्तता की आवश्यकता होगी। हालाँकि एक अच्छी खबर थी कि मेरे पास बेहतरीन टीम थी।

एक स्वाँग, जिसे 'संतुलन' कहा गया

यह वाकई कपटपूर्ण होते हुए भी प्रतिस्पर्धात्मक स्वाँग था, जो कि बहुत से राज्यों के शिक्षा बोर्ड और सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजुकेशन की मिली-भगत से 'संतुलन' बनाने के नाम पर किया जा रहा था। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो एक बच्चा, जो कि किसी खास विषय में 16 प्रतिशत अंक प्राप्त करता है और उसे लगभग 5 प्रतिशत का अनुग्रह अंक देकर उत्तीर्ण कर दिया जाता है और बोर्ड उसे 10 प्रतिशत का लाभ करा देता है। इस स्थिति में एक ऐसा दृश्य बनता है, जहाँ विद्यार्थी एक बड़े अंतर के कारण रोक दिए जाने चाहिए, वे उत्तीर्ण कर दिए जाते हैं। इसके अलावा, एक और समस्या थी। लगभग सभी विद्यार्थियों को उन अंकों से 10 प्रतिशत अधिक अंक मिला, जिनके कि वे वास्तविक हकदार थे। इस स्थिति के कारण एक बड़ी संख्या में विद्यार्थियों ने सी.बी.एस.ई. में 95 प्रतिशत अंक हासिल किए, क्योंकि सी.बी.एस.ई. द्वारा उच्चतम अंक का मानक रखा गया था, परिणामतः जिस भी छात्र को 85 से 95 प्रतिशत के बीच अंक मिले, वे 95 प्रतिशत तक पहुँच गए। इससे अधिक मजाक की स्थिति और क्या हो सकती थी! कुछ बोर्ड में यह उच्चतम अंक सीमा 100 प्रतिशत थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्यार्थियों को अंग्रेजी जैसे विषय में 100 प्रतिशत अंक मिले। शेक्सपीयर भी अपनी कब्र में करवट बदल रहा होगा। भारत में यह स्थिति अभी उतनी खराब नहीं मानी जा रही थी, क्योंकि भविष्य की कीमत पर वर्तमान को लाभ हो रहा था।

इस स्वाँग के बावजूद सी.बी.एस.ई. में पूरे भारत का उत्तीर्ण प्रतिशत 80 था, जो कि हमारी शिक्षा व्यवस्था की बुरी स्थिति को दर्शाता है। यदि अंकों की इस बढ़ोतरी की अनुमति न दी जाती, तब यह उत्तीर्ण प्रतिशत और भी नीचे गिर गया होता। इस हकीकत का सामना करने के लिए कोई भी तैयार नहीं था। राज्य बोर्ड के अध्यक्ष ने इस वास्तविकता का सामना किया और यह बिना अनुमति वाली कृपालु व्यवस्था बरखास्त कर दी गई।

सी.बी.एस.ई. की संतुलन नीति निम्नांकित सिद्धांतों पर केंद्रित थी—

1. परीक्षार्थियों को निर्धारित समय में प्रश्नों के उत्तर देने में होनेवाली कठिनाइयों की क्षतिपूर्ति हेतु। इन कठिनाइयों का संबंध प्रश्नों की गलत व्याख्या/त्रुटियों और अस्पष्टता से है, जिसके कारण क्षमता अधिक लगती है और अन्य प्रश्नों में अधिक समय लगता है।
2. स्थिति परिवर्तन और मूल्यांकन पद्धति में समरूपता के लिए क्षतिपूर्ति।
3. मूल्यांकन में शामिल आत्मपरकता के तत्त्वों के मामले में समतुल्यता लाने के लिए।
4. विभिन्न वर्गों वाली योजना में प्रश्न-पत्रों के विभिन्न समूहों के कठिनाई के स्तर के अंतर के कारण परीक्षार्थियों की क्षमताओं के वर्ग समूह में उनकी औसत उपलब्धियों का समानता प्रदान करने के लिए।
5. वर्तमान वर्ष के साथ-साथ पूर्ववर्ती वर्षों एवं विषयों के साथ परीक्षार्थियों के उत्तीर्ण प्रतिशत की करीब-करीब समानता को बनाए रखने हेतु।
6. परीक्षक की योग्यता के अंतर के कारण उत्पन्न लापरवाही भरे मूल्यांकन एवं स्वेच्छाचारिता से सुरक्षा हेतु।

पाँचवें बिंदु के प्रावधान के अनुसार, “वर्तमान वर्ष के साथ-साथ पूर्ववर्ती वर्षों एवं विषयों के साथ परीक्षार्थियों के उत्तीर्ण प्रतिशत की करीब-करीब समानता को बनाए रखने हेतु।” यह हास्यास्पद उत्तीर्ण प्रतिशत की अनुमति निरंतर रूप से प्रदान की गई थी। एक बार की हुई गलती को निरंतर बने रहने का आदेश दे दिया गया था।

जब मैंने स्कूली शिक्षा और साक्षरता सचिव के रूप में पद-भार सँभाला था, तब मानव संसाधन विकास मंत्री ने अपनी शुरुआती बैठक में ही इस विषय पर ध्यान आकर्षित किया था। इसलिए मैंने इस बीमारी से लड़ने की रणनीति तैयार कर ली थी। राज्यों और संघ-शासित क्षेत्रों की अपनी यात्रा (शुरुआती महीनों में 21) के दौरान इन मुद्दों पर संबंधित प्राधिकारियों से चर्चा भी हुई। लगभग सभी इस पर सहमत थे कि यह नुकसानदेह प्रथा बंद होनी चाहिए। पर चूँकि दूसरे नहीं रुकेंगे, इसलिए वे इसे जारी रखने के लिए मजबूर थे। बहुत से राज्यों के दृष्टिकोण को जानने के बाद मैंने इस मुद्दे पर चर्चा करने के लिए राष्ट्रीय स्तर की बैठक का आयोजन किया। इस विषय पर आश्चर्यजनक रूप से एक सर्वसम्मति बनी थी। इसी चर्चा और सर्वसम्मति के आधार पर 24 अप्रैल, 2017 की बैठक में निम्नलिखित निर्णय लिये गए—

1. केरल के अलावा सभी राज्य बोर्डों ने वर्तमान वर्ष से और आवश्यकता पड़ने पर राज्य नियमावली में

परिवर्तन से संबंधित संतुलन प्रदान करने के लिए अंक वृद्धि सुधार/उच्च स्तरीय सीमा-निर्धारण पर रोक लगाने का निर्णय लिया गया। हालाँकि केरल बोर्ड ने भी यह सुनिश्चित किया था कि वह अगले साल से इस संतुलन से अलग हटेगी।

2. उन्होंने निश्चित किया था कि उत्तीर्ण प्रतिशत हेतु निम्न स्तरीय क्षमता में सुधार लाने के लिए अनुग्रह अंक की नीति जारी रहेगी; किंतु यह नीति पारदर्शिता के लिए बोर्ड की वेबसाइट पर मौजूद रहेगी। इसके साथ यह भी तय हुआ था कि अनुग्रह अंक मार्कशीट पर भी स्पष्ट रूप से दर्शाए जाएंगे।

3. उन्होंने कक्षा 12 तक के सभी प्रमुख विषयों के लिए सामान्य सार पाठ्यचर्या अपनाते हुए आगे बढ़ने का निश्चय किया था, जिसमें समाज विज्ञान में प्रासंगिकता का विकल्प भी होगा।

4. मार्कशीट में पृथक् रूप से पाठ्येतर क्रियाशीलता अंक दर्शाने का निर्णय लिया गया था।

5. यह भी तय किया गया था कि राज्य बोर्ड एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें इस्तेमाल कर सकते हैं और उन्हें एन.सी.ई.आर.टी. की अनुमति से अनूदित एवं प्रकाशित करवा सकते हैं।

6. वे एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकों की आवश्यकता पहले से ही दर्शा सकते हैं, ताकि विद्यार्थियों को आर्थिक लाभ हो और उन्हें समय से पहले पुस्तकें उपलब्ध होने की सुनिश्चितता भी हो।

7. राज्य बोर्ड मूल्यांकन और आकलन में समरूपता लाने हेतु प्रश्न-पत्रों के साझे के लिए सी.बी.एस.ई. से संपर्क कर सकते हैं।

8. राज्य बोर्ड ने एक इंटर बोर्ड वर्किंग ग्रुप (आई.बी.डब्ल्यू.जी.) को स्थापित करने का निर्णय लिया था, जिसमें गुजरात बोर्ड, जम्मू व कश्मीर बोर्ड, केरल, तेलंगाना, छत्तीसगढ़, मणिपुर के अध्यक्ष तथा आई.सी.एस.सी. के अध्यक्ष भी शामिल होंगे एवं इसमें सी.बी.एस.ई. की भूमिका आई.बी.डब्ल्यू.जी. के संयोजन के रूप में होगी।

इन निर्णयों के परिणामस्वरूप संबंधित राज्य सरकारों ने संतुलन बनाने के नाम पर अंकों की उच्चतम सीमा का निर्धारण छोड़ दिया था। कर्नाटक में उत्तीर्ण प्रतिशत लगभग 8 प्रतिशत नीचे गिर गया था। केंद्रीय मंत्री ने भी राज्य सरकार की इस कठिन परिस्थिति का सामना करने के लिए प्रशंसा की थी। पंजाब में उत्तीर्ण प्रतिशत 10 से अधिक गिर गया था। बहुत से अन्य राज्यों ने भी इस वास्तविकता का सामना करने का निश्चय किया था।

सी.बी.एस.ई. भी उन दोषियों में से एक थी, जिसने 'उच्चतम अंक निर्धारित करनेवालों' का साथ दिया था। 24 अप्रैल की बैठक में लिये गए निर्णय के परिणामस्वरूप संगठन इस उच्चतम अंक-निर्धारण की व्यवस्था से छुटकारा पाने का प्रयास कर रहा था; परंतु दिल्ली में पढ़नेवाले बच्चों के प्रभावशाली माता-पिता इस हास्यास्पद व्यवस्था, जो कि उच्च प्रतिशत के अंक प्रदान करती थी, के भ्रम को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। विचित्रता यह है कि इस सूची में राजनेता, लोक-सेवक एवं वकील भी शामिल थे, जिनके बच्चे कक्षा 12 में थे। इन बच्चों के माता-पिता उच्च स्तरीय अंक प्रदान करनेवाले लाभ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे।

इस मामले में मीडिया भी शामिल था और इसमें रुचि रखनेवाले समूह अर्धसत्य को उन तक पहुँचाने में सफल रहे। इसी संबंध में उच्च न्यायालय में एक याचिका दाखिल की गई, जिसमें बताया गया कि सी.बी.एस.ई. मध्य सत्र में अपना लक्ष्य परिवर्तित कर रही थी। वैसे इस बात का अंदाजा लगाना मुश्किल था कि किस तरह से बोर्ड द्वारा इस व्यवस्था से हटना लक्ष्य परिवर्तित करना माना जा सकता था। उच्च न्यायालय का आदेश था कि अंकों का संतुलन वैसे ही जारी रहेगा, जैसे पहले होता था। इस आदेश में 'उच्च स्तर अंक निर्धारण' का कहीं जिक्र नहीं था। सी.बी.एस.ई. ने केंद्रीय मंत्री के निर्देश और इस आदेश का पालन किया। उत्तीर्ण प्रतिशत नीचे नहीं किए गए थे, इसलिए सभी खुश लग रहे थे।

किंतु जिस चीज की कुरबानी दी गई थी, वह थी—'उच्च स्तर के अंक निर्धारण' को हटाने की कवायद। मेरे लिए यह एक बड़ी हताशा थी, क्योंकि हम अपने वचनों का पालन करने में असफल हो गए थे।

बेईमान शिक्षकों को पढ़ा रहे थे

यह एक मानी हुई वास्तविकता थी कि सभी ने बैचलर इन एजुकेशन (बी.एड.) और डिप्लोमा इन एलिमेंटरी एजुकेशन (डी.ईएल.ईडी) की योजना को दोषी ठहराया था। यह केवल नाम की ही थीं। नेशनल काउंसिल फॉर टीचर एजुकेशन (एन.सी.टी.ई) एक मजबूत संस्था थी, पर इसके खिलाफ भी भ्रष्टाचार के आरोप थे। सारे भारत में शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों की भरमार हो चुकी थी और इसका श्रेय सर्व शिक्षा अभियान के केंद्रीय प्रायोजित योजना (सी.एस.एस.) के द्वारा उत्पन्न की गई शिक्षकों की माँग तथा बच्चों के निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिकार कानून 2009 को जाता है। वर्ष 2017 तक भारत में लगभग 18,000 टीचर एजुकेशन इंस्टीट्यूट्स (टी.ई.आई.) थे। इनमें से अधिकतर संस्थानों ने बिना उपस्थिति या आंतरिक मूल्यांकन के ही पाठ्यक्रम का शुल्क लेकर डिग्री प्रदान करने की सुनिश्चितता दी थी। यह भी अफवाह थी कि इनमें से कुछ ने विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में उत्तीर्ण अंक की सुनिश्चितता प्रदान करने के साथ-साथ नौकरी दिलाने का भी 'पैकेज डील' के रूप में वायदा किया था। इससे संकट की स्थिति का अनुमान लग सकता था और यह देश की शिक्षा व्यवस्था के सार को खा रहा था।

इस पीड़ादायी स्थिति को न्यायमूर्ति वर्मा आयोग ने आधिकारिक पहचान दी थी और इसे भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने स्थापित किया था। शिक्षक शिक्षा की इस अति विकट स्थिति के संदर्भ में इसने निम्न रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, "टीचर एलिजिबिलिटी टेस्ट (टी.ई.टी.), जिसे शिक्षक शिक्षा की पेशेवर डिग्री से ऊपर तथा शिक्षक भरती के लिए एक आवश्यक मानदंड के लिए सन् 2011 में लागू किया गया था, ने स्पष्ट रूप से दर्शाया कि अधिकतर अभ्यर्थी, जिन्होंने केंद्र एवं राज्य द्वारा संचालित टी.ई.टी. की परीक्षा दी, वे शिक्षा की पेशेवर डिग्री रखने के बावजूद इस परीक्षा को उत्तीर्ण करने में असफल रहे।"

टी.ई.टी. के उत्तीर्ण प्रतिशत (13 प्रतिशत) ने देश में शिक्षक शिक्षा में गुणवत्ता के संकट को स्पष्ट कर दिया। आयोग ने शिक्षक शिक्षा में सुधार के बहुत से सुझाव दिए तथा सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें आवश्यक भी बताया। उनमें से एक था—एन.सी.टी.ई., जिसे टीचर एजुकेशन ऐंड एक्क्रेडिएशन सेंटर के रूप में स्थापित होना चाहिए। जिस समय सुझाव दिए जा रहे थे, उस समय एन.सी.टी.सी. पहले से ही मान्यता दे रहा था। वास्तव में, यह सन् 2002 से ही इस कार्य में था; परंतु यह नेशनल एसेसमेंट ऐंड एक्क्रेडिएशन काउंसिल (एन.ए.ए.सी.) के माध्यम से हो रहा था, जो कि यू.जी.सी. की एक स्वायत्तशासी संस्था है। एन.ए.ए.सी. के आदेशानुसार यू.जी.सी. के नियंत्रण वाली नियमावली के तहत उच्च स्तरीय शिक्षण संस्थानों के लिए मूल्यांकन और मान्यता प्रदान करना था। चूँकि शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान यू.जी.सी. की परिधि में नहीं थे, इसलिए एन.सी.टी.सी. की तरफ से किया गया एन.ए.ए.सी. का कार्य इसके मूल कार्य में नहीं था। वर्ष 2002 से 2017 तक (जब तक एन.सी.टी.सी. और एन.ए.ए.सी. के बीच एम.ओ.यू. पर हस्ताक्षर हो चुका था) सिर्फ 1,522 टीचर्स एजुकेशन इंस्टीट्यूट को मान्यता प्राप्त हुई थी। जे.वी.सी. पर सर्वोच्च न्यायालय के आदेश लागू होने के अलावा क्या एन.ए.ए.सी. के द्वारा प्रदान की गई मान्यता का प्रारूप टी.ई.आई. को भी मान्यता देने के अनुकूल था? अंततः एन.ए.ए.सी. ने सन् 2013 में टी.ई.आई. को मान्यता देने के बड़े कार्य में अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। फिर भी, एन.सी.टी.ई. सर्वोच्च न्यायालय के आदेशानुसार अपना स्वयं का केंद्र मान्यता देने के अनुकूल न स्थापित कर सकी। हालाँकि सर्वोच्च न्यायालय के कई आदेशों के बावजूद जे.वी.सी. लागू न हो पाई और इसे सर्वोच्च न्यायालय की अवमानना की श्रेणी में रखा गया; पर कुछ भी नहीं हुआ, क्योंकि कोई भी इसके लिए न्यायालय नहीं गया।

जनवरी 2017 में एन.सी.टी.ई. के अध्यक्ष के पद पर संतोष मैथ्यू के आने के बाद परिदृश्य में बदलाव आया। उन्होंने भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए गंभीरतापूर्वक प्रयास किए तथा टी.ई.टी. में सुधार के माध्यम से शिक्षकों की क्षमता निर्धारित की। सभी शिक्षकों के लिए राष्ट्रीय सूची बनाई और जे.वी.सी. के आदेश के बाकी कामों को भी पूरा किया। सबसे महत्वपूर्ण था—शिक्षकों की शिक्षण (दीक्षा) की क्षमता बढ़ाना और मान्यता देना।

इस संदर्भ में निम्नलिखित कदम उठाए गए—

1. एन.सी.टी.ई. में शत-प्रतिशत इ-ऑफिस के इस्तेमाल से इसे कागज-रहित बनाया गया।
2. उन्होंने परिषद् की अनुमति से सभी क्षेत्रीय कार्यालयों को दिल्ली मुख्यालय में स्थानांतरित किया और ई.आर.पी. सॉफ्टवेयर इस्तेमाल की आवश्यकता का आदेश दिया, जिससे सभी निवेशकों के लिए एन.सी.टी.ई. से

इंटरनेट के माध्यम से संपर्क करना संभव हो गया।

3. टी.ई.आई. शिक्षक के लिए भारत का प्रथम अनुकूल अनुमति ढाँचा तैयार किया गया। टीचआर की लागत टी.ई.आई. के लिए 50 प्रतिशत कम की गई और सभी 18,000 टी.ई.आई. को एक साल में अनुमति प्रदान की गई।

टीचआर ने अनुमति रूपरेखा के नए तथ्यों को भी प्रस्तुत किया था। उदाहरणस्वरूप—

(अ) शिक्षकों को शिक्षित करनेवालों के द्वारा एक घंटे के साक्षात्कार की ऑडियो-वीडियो रिकॉर्डिंग।

(ब) विद्यार्थी शिक्षकों की मानक परीक्षा के लिए परीक्षा और प्रत्येक टी.ई.आई. में विद्यार्थी की शिक्षा की गुणवत्ता।

4. टी.ई.आई. द्वारा सुनिश्चित किए गए दावे और आँकड़े एकत्र करने के लिए क्वालिटी काउंसिल ऑफ इंडिया (क्यू.सी.आई.) की सेवाएँ प्रदान की गईं, ताकि एन.सी.टी.ई. द्वारा चयनित शिक्षकों के शिक्षक केंद्रीय स्टूडियो या फिर दूरस्थ क्षेत्रों से ही डिजिटल मंच के माध्यम से टी.ई.आई. का पुनरीक्षण कर सकें।

5. सूचना प्रौद्योगिकी मंच तैयार करना, ताकि टी.ई.आई. द्वारा प्रदान किए इसके कार्य के महत्वपूर्ण पहलुओं के आँकड़े एकत्र हों, जिसमें पुस्तकालय का इस्तेमाल विद्यार्थी शिक्षकों द्वारा शिक्षण के वीडियो पाठ्य-योजना आदि शामिल हैं। इस सुविधा से दूरस्थ क्षेत्रों के निरंतर ऑडिट की भी संभावना हो पाई।

6. दीक्षा (DIKSHA) की स्थापना—वर्ष 2017 में शिक्षक दिवस पर भारत के उप-राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रीय शिक्षक पोर्टल शुरू किया गया। यह स्कूलों के शिक्षकों, शिक्षकों के शिक्षण, विद्यार्थी शिक्षक और कक्ष में शिक्षण हेतु सहायक सामग्री के रूप में प्रदान किया गया। इसकी रूपरेखा इंटरनेट के न होने पर भी इस्तेमाल होने की थी। दीक्षा की उपयोगिता शिक्षक के पूरे जीवन-चक्र की सूची तैयार करने की भी थी, जिसमें शिक्षक के एक विद्यार्थी शिक्षक के रूप में टी.ई.आई. में प्रवेश से लेकर शिक्षक और उससे परे की भी जानकारी थी।

शिक्षक इसका इस्तेमाल अपने कैरियर की सीढ़ी के रूप में भी कर सकेंगे।

वर्ष 2016 में एन.सी.टी.ई. ने एक शुरुआत की, जिसमें टी.ई.आई. को एक शपथ-पत्र देना था, जिसके अनुसार वे नियमावलियों के अनुपालनकर्ता थे, जिसका संबंध भूमि, भवन और संकाय से था। इसमें कंप्यूटरीकृत मॉडैटरी एफिडेविट सिस्टम (एम.ए.एस.) दर्शाना था और उसमें इसे जमा करने से पहले टी.ई.आई. को अपना पूरा आँकड़ा जमा करना था। जिन्होंने इस शपथ-पत्र को नहीं जमा किया था, उन्हें 'कारण बताओ' नोटिस जारी किए गए थे। इस नोटिस की सूचना के माध्यम से यह भी दर्शाया गया था कि जो छात्र इन कॉलेजों में प्रवेश लेना चाहते थे, वे अपना शपथ-पत्र दाखिल कर चुके थे। जिन कॉलेजों ने शपथ-पत्र जमा कर लिया था, उनकी सूची एन.सी.टी.ई. के पोर्टल पर दी जा चुकी थी। लगभग 4,000 कॉलेजों ने शपथ-पत्र दाखिल नहीं किया था। उनकी स्थिति से यह स्पष्ट था कि वे केवल नाम के ही थे।

नए अध्यक्ष ने कबूतरों के बीच एक बिल्ली छोड़ दी थी। शिक्षकों के शिक्षण में मौजूद माफियाओं ने भागना शुरू कर दिया था। 500 से अधिक प्रतिवेदन नई सरकार के खिलाफ जारी किए गए, जो कि इस गंदगी को हटाना चाहती थी और बाकी कॉलेजों की स्थिति मानक के अनुरूप थी। शिकायतकर्ताओं में से एक, जो कि तीसरे पक्ष द्वारा अनुमति के सवाल से संबंधित था, का तर्क था कि क्यू.सी.आई. को कॉलेजों की अनुमति प्रदान करने का कार्य दिया जा रहा था। यह तथ्यों पर आधारित विवाद था। क्यू.सी.आई. को तथ्यों की जाँच के लिए रखा गया था, न कि अनुमति प्रदान करने के लिए। यह कार्य एन.सी.टी.ई. के द्वारा किया जाना था। क्यू.आई.सी. को लेने को ही चुनौती दी गई थी। इसके शुल्क पर भी सवाल उठे थे। एन.सी.टी.ई. ने सभी सवालों के संतोषजनक जवाब दिए थे; परंतु मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावडेकर, जो कि सामान्यतः शांत प्रकृति के हैं, वे भी उत्तेजित हो गए थे। वे भी शायद तनाव में थे। मंत्री के स्तर पर बहुत से पुनरीक्षण के मामले थे और हर बार उनकी असहजता बढ़ जाती थी।

इसी बीच मैंने राज्य सरकारों को एन.सी.टी.ई. के कार्यों के बारे में बताया। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री योगी आदित्यनाथ ने पूरी तरह से इस विवाद को खत्म करने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने इस वास्तविकता को स्वीकार किया था कि उन पर भी दबाव था; पर उन्होंने पूरे समर्थन का आश्वासन दिया। जिस समय मैंने जयपुर की सभा में अपनी योजना को स्पष्ट किया, तब राजस्थान की मुख्यमंत्री श्रीमती वसुंधरा राजे ने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। पश्चिम बंगाल की सरकार, जो कि सामान्यतया केंद्र के साथ युद्ध की स्थिति में रहती है, ने भी इन कार्यक्रमों की सराहना की और प्रचार का कार्य भी किया। लगभग सभी राज्यों ने इस संकट को पहचाना था और काररवाई का

समर्थन किया था।

मीडिया, जो कि सामान्यतया आलोचक ही रहता है, उसने भी इस काररवाई का समर्थन किया। इसकी खबरों का शीर्षक था—‘भारत में शिक्षक शिक्षा की भयावह कहानी’। मिंट ने लिखा—“दुनिया के किसी भी बड़े देश में शिक्षकों के संभवतः कमजोर शिक्षण व्यवस्था के विकास के लिए एन.सी.टी.ई. का संचालन।” इस अखबार ने यह भी लिखा कि एन.सी.टी.ई. की ताकत का इस्तेमाल उस व्यवस्था को सुधारने के लिए किया जा रहा है, जहाँ कॉलेजों के लाइसेंस बेचे जाते थे। यह स्थिति उस बेहतरी की उम्मीद को दिखाती थी, जिसकी हम मानव संसाधन विकास मंत्रालय और एन.सी.टी.आई. से केवल आशा करते थे।

बिहार उच्च न्यायालय ने भी एन.सी.टी.ई. से अपने राज्य में कॉलेजों के निरीक्षण का आदेश दिया था। शुरुआती निरीक्षण में उनकी स्पष्ट कमियों की अनदेखी की गई थी, पर बाद में जब क्यू.सी.आई. की सहायता से कुछ कॉलेजों की वीडियो बनी, तब उनकी वास्तविक स्थिति का खुलासा हुआ। इसके बाद के निरीक्षण से वहाँ की दुर्दशा का पता चला; किंतु टी.ई.आई. ने बिहार उच्च न्यायालय में मुकदमा यह बताते हुए किया कि एन.सी.टी.ई. के अध्यक्ष ने न्यायालय की अवमानना करते हुए क्यू.सी.आई. का इस्तेमाल अन्य चीजों के लिए किया था। न्यायालय ने उसके खिलाफ जाते हुए मानव संसाधन विकास मंत्रालय से एक शपथ-पत्र दाखिल करने को कहा कि इससे अध्यक्ष को किस तरह से अलग किया जा सकता था। स्थिति तेजी से बिगड़ती गई और न्यायालय ने दरशाया कि अध्यक्ष को अपराधी साबित करने का रुझान था। सर्वोच्च न्यायालय की पीठ, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्य न्यायाधीश ने किया था। इनसे अध्यक्ष का बचाव हो सका और मुकदमा स्वतः ही स्थानांतरित हो गया।

देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों में लगभग 230 से अधिक मामले दर्ज हुए, जिसमें टीचआर के मसौदे पर रोक लगाने की माँग थी। अधिकतर उच्च न्यायालयों ने स्टे देने से मना कर दिया था, परंतु तीन ने दिया भी था। यह स्थिति बहुत ही नुकसानदेह थी, क्योंकि जब सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर सभी मामले दिल्ली उच्च न्यायालय में स्थानांतरित होने वाले थे और न्यायालय को लगता था कि सभी मामले उलट दिए जाने चाहिए, इसलिए जो लोग उस तक पहुँचे थे, उन सभी को स्टे देना शुरू कर दिया था। भारत के कानूनी इतिहास का यह पहला मामला होना चाहिए, जिसमें पॉलिसी निर्धारित होने से पहले ही मुकदमे का फैसला हो गया, यानी मसौदे के स्तर पर ही न्यायालय ने हस्तक्षेप किया और प्रक्रिया पर रोक लगा दी थी। न्यायालय के दृष्टिकोण से सबसे अधिक रोचक स्थिति यह थी कि उच्च न्यायालय द्वारा लगाई गई रोक सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के खिलाफ थी।

अंतिम विवेचना में, मुझे पूरा यकीन था कि एन.सी.टी.ई. के द्वारा किए गए प्रयासों को दोनों न्यायालयों और सरकार से सफलता मिलेगी। यह अंदाज लोगों को लगाना था कि इसमें कितना समय लगेगा। इसी बीच सर्वोच्च न्यायालय के आदेश का पालन करने का एन.सी.टी.ई. का प्रयास होता है, पर टी.ई.आई. के चतुराई भरे छुटपुट मुकदमों के द्वारा जे.वी.सी. को सफलतापूर्वक रोक दिया गया था।

यह नुकसान भारत का था।

शिक्षा के अधिकार का कानून : क्या इसने अपना उद्देश्य हासिल किया?

जब अंग्रेज इस देश को छोड़कर गए, तब वे अपने साथ न्याय ले गए और यहाँ लॉज, इनलॉज और आउटलॉज छोड़ गए। हमारी एक मानसिकता है और यह हमें यकीन दिलाती है कि कानून बनाना सभी बीमारियों का रामबाण है। बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा कानून 2009 (आर.टी.ई. ऐक्ट) भी इसी मानसिकता की उपज है। मुझे अक्सर आश्चर्य होता है कि अधिकारी को कुछ करने के लिए कानून की जरूरत क्यों पड़ती है, जो कि हर हाल में कानूनी प्रावधान में इसे करने के लिए अधिकृत है।

आइए, आर.टी.ई. कानून के उद्देश्य को समझने का प्रयास करते हैं और फिर निम्नलिखित सवालों के जवाब तलाशते हैं—

1. क्या बिना कानून के यह अपना उद्देश्य हासिल कर सकता था?
2. क्या आर.टी.ई. ऐक्ट के लागू होने से इसका उद्देश्य पूरा हो गया था?
3. क्या आर.टी.ई. ऐक्ट ने गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना और भी जटिल एवं कठिन बना दिया था?

इस कानून के तर्कों और उद्देश्यों के कथन को निम्न बिंदुओं की सुनिश्चितता प्रदान करनी चाहिए—

1. प्रत्येक बच्चे को पूर्णकालिक, संतोषजनक और गुणवत्तापूर्ण प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है तथा उनका औपचारिक विद्यालय विशेष प्रकार के आवश्यक मानकों को पूरा करता है।
2. 'मानव शिक्षा' सरकार की जिम्मेदारी है, जिसमें प्रवेश, उपस्थिति और प्रारंभिक शिक्षा भी शामिल है।
3. 'निःशुल्क शिक्षा' से आशय है कि कोई भी बच्चा या बच्चों के अलावा उसके माता-पिता के द्वारा किसी स्कूल में उसका दाखिला कराया जाता है और उसे सरकार द्वारा सहयोग नहीं मिलता है, तब उसे इसका शुल्क देना होगा, जो कि उसे प्रारंभिक शिक्षा पूरी करने से रोक सकती है।
4. सरकार, स्थानीय प्राधिकारियों, माता-पिता, स्कूल और शिक्षकों के कर्तव्य एवं जिम्मेदारी निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना है।
5. बच्चों की शिक्षा के अधिकार की सुरक्षा के लिए तंत्र बनाना और विकेंद्रीकृत शिकायत सुधार तंत्र की स्थापना।

संक्षेप में, इसका लक्ष्य निःशुल्क और अनिवार्य गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। इस कानून के द्वारा सरकार ने स्वयं पर ही कानूनी और बलपूर्वक लागू होनेवाली जिम्मेदारी डाली है। फिर भी, यह किस प्रकार सहायक होगी? सरकार को निःशुल्क व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा बिना किसी कानून के ही प्रदान करनी चाहिए, जबकि दुनिया भर के बहुत से देशों ने ऐसा किया है। सरकार को ऐसा करने से कोई नहीं रोक रहा था। वाकई, बाद वाली सरकारें ऐसा करने का प्रयास कर रही थीं, पर वे न कर सकीं। उनकी इस अक्षमता का कारण कानून का अभाव नहीं था। वास्तव में, इस कानून का बनना मुश्किल से ही गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुआ। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि शिक्षा का स्तर इस कानून के आने के बाद वाले वर्षों के दौरान नीचे आया था।

इस कानून ने गुणवत्तापूर्ण शिक्षा को प्रदान करनेवाले कार्य को और भी जटिल एवं कठिन बना दिया था। इस कानून का ध्यान मुख्यतः परिणाम के बजाय संरचना पर अधिक था। इसने 'निजी' और 'सार्वजनिक' स्कूलों के बीच प्रतिकूल भूमिका उत्पन्न की थी। यह कानून की धारा 12 (1) सी के अनुसार, "निजी स्कूलों को भी कक्षा 1 में कक्षा की कुछ संख्या के कम-से-कम 25 प्रतिशत बच्चों का प्रवेश कमजोर आर्थिक वर्ग से लेना होगा।" जिस तरह से यह प्रतिपूर्ति की जाने वाली है, उसने कई समस्याएँ पैदा की थीं। स्कूल के लिए जो मानक और शर्तें लगाई गई थीं, वे जमीनी हकीकत से काफी दूर थीं, जो संभवतः वांछनीय या उसे आवश्यक बना दिया गया था। इस स्थिति ने शिक्षकों की संख्या में एक बड़ा इजाफा किया। वर्ष 2015-16 के दौरान 39,608 सरकारी स्कूलों में 10 बच्चों से भी कम थे, परंतु प्रत्येक स्कूल को कम-से-कम दो शिक्षक रखने ही थे। निजी स्कूल, जिनमें से अधिकतर शिक्षा देने का बेहतरीन काम कर रहे थे, वे इन मानकों के कारण बहुत ही दबाव में आ गए या फिर बंदी के कगार पर थे। इस कानून के लागू होने की जमीनी हकीकत जानने की कोशिश भी नहीं की गई। इसके परिणाम भी भयावह थे। सारा ध्यान मुख्य रूप से नियमावली पर ही था (शायद कानून से यही आशय भी है), न कि विकास पर। परिणामतः इस कानून के लागू होने के आठ साल बाद भी देश की स्थिति पहले से बेहतर नहीं थी।

आर.टी.ई. ऐक्ट ने शिक्षा प्रदान करने की स्थिति को और भी नुकसान पहुँचाया था। कानून की धारा 16 दर्शाती है कि “स्कूल में प्रवेश लेनेवाले किसी भी विद्यार्थी को उसकी प्रारंभिक शिक्षा पूरी हुए बिना किसी कक्षा में न तो रोका जाएगा और न ही स्कूल से बाहर किया जाएगा।” स्कूल से निकालने की बात तो समझी जा सकती है, पर कक्षा में बच्चे को न रोकने का मतलब एक बड़ी संख्या में ऐसे बच्चों को उत्तीर्ण करना है, जिन्होंने आवश्यक क्षमता हासिल नहीं की है। कक्षा में न रोकने की पॉलिसी पश्चिमी देशों की तर्ज पर भारत में बिना परिणाम पर ध्यान दिए अपनाई गई थी। हालाँकि इसका परिणाम भयावह हुआ। कक्षा दस में बच्चों की संख्या बहुत बढ़ गई और उत्तीर्ण प्रतिशत बहुत नीचे गिर गया। राज्यों को इन मुद्दों को उठाने की भी आजादी नहीं दी गई थी। तत्पश्चात् सरकार ने राज्यों को संसद् के तहत कानून में परिवर्तन का विकल्प दिया था।

धारा 18 (5) के अंतर्गत उल्लिखित कानूनी प्रावधान—

“कोई भी व्यक्ति, जो बिना मान्यता प्राप्त किए स्कूल स्थापित करता है या मान्यता रद्द किए जाने पर उसका संचालन जारी रखता है, उस पर एक लाख रुपए का दंड देय होगा और यदि वह इसका उल्लंघन करता है, तब उसके द्वारा किए गए कानून के उल्लंघन के दिनों के अनुरूप प्रतिदिन दस हजार रुपए का अर्थदंड देय होगा।”

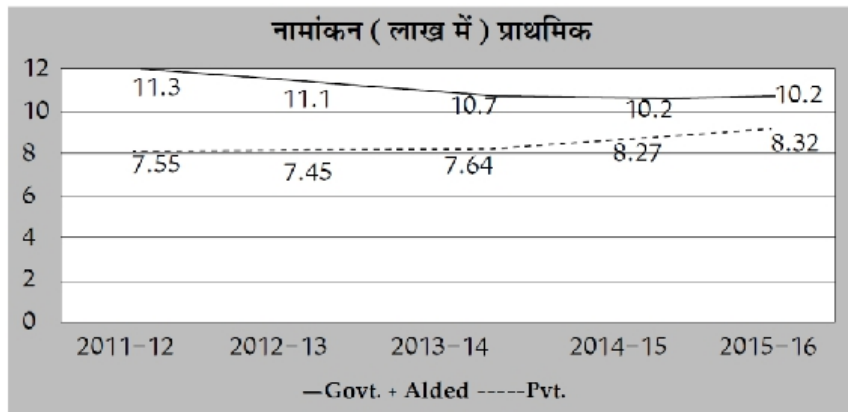
बहुत वर्षों में भी शायद ही कोई स्कूल होगा, जिस पर इस नियम के तहत अर्थदंड लगा होगा। इस कानून का मखौल उड़ाते हुए स्कूल इन शर्तों का उल्लंघन करते हैं। जबकि दूसरी तरफ निजी स्कूलों का बजट दबाव और उत्पीड़न के कारण कठिनाई में रहता है तथा शुद्ध व्यापार के रूप में निजी स्कूल चलानेवाले माफिया अपनी मनमरजी चलाते रहते हैं। कानून को इस दुर्दशा के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता; पर इस स्थिति को सुधारने में यह बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

□

जम्मू-कश्मीर समस्या सुधारने में शिक्षा एक उपकरण

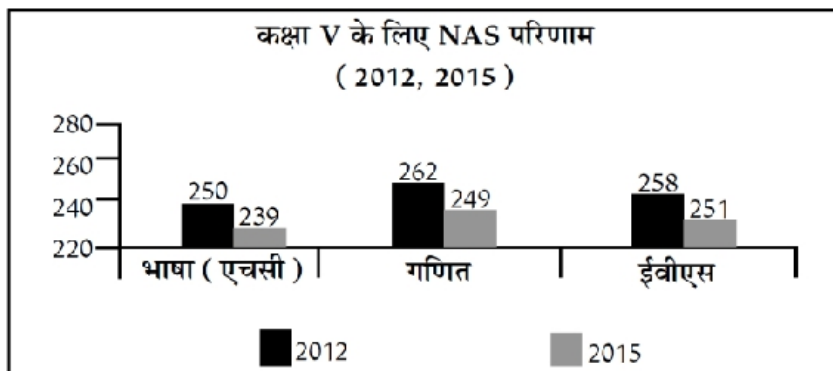
पुलिस और पैरामिलिट्री फोर्स पर पत्थरबाजी ने जम्मू व कश्मीर समस्या को एक नया आयाम दिया है। घाटी के बहुत से स्कूल आग के हवाले कर दिए गए थे। ये स्थितियाँ बहुत ही विकट हैं और इसने राज्य के जटिल परिदृश्य को और विषम बना दिया है। क्या राज्य को इस भयावह स्थिति से बाहर लाने के लिए शिक्षा को एक उपकरण की तरह इस्तेमाल किया जा सकता था? क्या इस उपकरण से बच्चों को मुख्यधारा में लाना और उन्हें भटकने देने से बचाना संभव था? वैसे यह चुनौती भरा काम था, पर वाकई ध्यान देने योग्य है।

जम्मू व कश्मीर में 'स्कूली शिक्षा के परिवर्तन की रूपरेखा' का प्रारूप विशेषज्ञों और राज्य के अधिकारियों के परामर्श से बनाया गया। इस रूपरेखा ने सबसे पहले राज्य की शिक्षा से संबंधित समस्याओं को इंगित किया था।



(Source UDISE, NIEPA)

- सरकारी और वित्त पोषित स्कूलों में तुलनात्मक रूप से पंजीयन की गिरती संख्या।
- स्कूल से बाहरवाले बच्चों की एक बड़ी संख्या।
- स्कूल छोड़नेवाले प्राथमिक स्तर के बच्चों की वार्षिक औसत दर 6.79 प्रतिशत, जो कि राष्ट्रीय औसत दर 4.17 प्रतिशत से अधिक है।
- राष्ट्रीय स्तर की तुलना में शिक्षा प्राप्त करनेवाले बच्चों का गिरता औसत।



(Source NCERT, NAS Surveys)

यह रूपरेखा निम्नलिखित पहलुओं पर केंद्रित थी—

- सुधार हेतु सुदृढ़ प्रशासनिक ढाँचा, जिसमें पुनरीक्षण के लिए परियोजना प्रबंध समर्थन एवं पहल शामिल हो।
- विशेष पहल और मध्यस्थता हो, जिसने देश के अन्य हिस्सों में भी कार्य किया हो।

3. सक्षमों में सुधार हेतु पूर्ण योजना एवं मानव संसाधन तंत्र की परख, मध्यस्थों की क्षमता और तंत्र को परिणाम के संदर्भ में जवाबदेह बनाना।

4. जो कुछ भी करना है, उसकी पूरी कार्य योजना एवं कैसे होगा, कौन करेगा और कब यह कार्य होगा।

5. कुछ विशेष चिह्नित जिलों के लिए अतिरिक्त योजना।

‘मुख्य धारा’ के संदर्भ में श्रीनगर घाटी के कुछ चिह्नित जिलों के लिए अतिरिक्त योजना का विशेष ध्यान रखा गया था। उन जिलों में स्कूलों के बच्चों को शामिल करने का विचार वहाँ शांति स्थापित करने के लिए किया गया था। इस योजना में निम्नलिखित-बिंदु शामिल थे—

1. नष्ट हो चुके स्कूलों का पुनरुद्धार।
2. एक से दूसरे स्कूलों की संपर्क योजना।
3. प्राथमिक स्कूलों में डिजिटल ढाँचे में सुधार।
4. शिक्षकों के लिए स्मार्ट कार्ड आधारित स्वास्थ्य बीमा।
5. प्राथमिक स्कूलों में सौर ऊर्जा का प्रवेश।
6. कैरियर और कल्याण हेतु भावनात्मक प्रोत्साहन।
7. एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्यक्रम और सी.बी.एस.ई. आधारित संलग्नता।

राज्य के अंदरूनी हिस्सों, जिसमें घाटी भी शामिल थी, की मेरी निजी यात्राओं ने जमीनी हकीकत से परिचित होने में मेरी सहायता की थी। राज्यपाल के साथ इस प्रस्तावित योजना की हुई चर्चा में उन्होंने मेरे दृष्टिकोण की सराहना की, खासतौर से इसमें घाटी के स्कूलों का आपस में संपर्क तथा इसका देश के अन्य हिस्सों से संपर्क भी शामिल था। स्कूलों के प्रत्येक युग का परामर्शदाता एक एन.जी.ओ. होगा, जो कि स्कूलों के बीच साझेदारी और विचार-विनिमय को प्रोत्साहित करेगा। ऐसा मानना था कि इन सहयोगी समूहों का आपसी संपर्क विचारों को समृद्ध बनाने के साथ-साथ सांस्कृतिक जुड़ाव को बढ़ाएगा तथा दो भिन्न सहयोगी समूहों के बीच आपसी सम्मान को भी बढ़ावा देगा। इनके बीच का यह वैचारिक विनिमय सहयोग और समर्थन को भी बढ़ावा देगा।

इन स्कूलों को आपस में जोड़नेवाला कार्यक्रम इन स्कूलों में डिजिटल ढाँचे को भी सुधारेगा। इसके साथ ही, ये सुविधाएँ विद्यार्थियों में आपसी मेल-जोल के अलावा इ-शिक्षण को भी बढ़ावा देंगी।

मुझे सुखद आश्चर्य हुआ, जब मुख्यमंत्री राज्य सरकारों के स्कूलों में एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रम को लागू करने के लिए प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो गई थीं।

मेरी समझ से, इससे युवा और प्रभावशाली मस्तिष्कों में राष्ट्रीय समझ भी बढ़ेगी। इसके अलावा, यहाँ के अन्य स्कूलों में भी सी.बी.एस.ई. से संबद्ध होने की चाह थी। वे सी.बी.एस.ई. की परीक्षाओं की उपयोगिता समझते थे और यह उनके बच्चों के लिए इंजीनियरिंग व मेडिकल प्रवेश परीक्षाओं के लिए सहायक होगा।

श्रीनगर में एन.जी.ओ. के साथ जम्मू व कश्मीर में उनकी भूमिका को लेकर एक कार्यशाला की भी योजना बनी थी। एन.जी.ओ. की तरफ से इसमें शुरुआत में कुछ अनिच्छा दिखाई गई और केवल दो ने ही इसमें हिस्सा लेने में रुचि दिखाई थी। हालाँकि शीघ्र ही उन्हें महसूस हो गया था कि सरकार का आशय सिर्फ व्यापार था। अंततः इकतीस ने इसमें हिस्सा लिया। ये सभी बातोंएँ श्रीनगर में ही हुई थीं, न कि बहुत दूर-दराज के इलाकों में, जहाँ आतंकवादियों का खतरा था। वैसे, इस स्थिति में भी इसमें हिस्सा लेनेवालों के उत्साह में कमी नहीं आई थी, जो कि इसमें अपनी भूमिका के प्रति पूरी तरह से समर्पित थे। सभी निवेशक, जैसे—राज्य सरकार, केंद्र सरकार और एन.जी.ओ. इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए प्रतिबद्ध और राजी थे। केंद्र और राज्य स्तर पर परिचालन आयोग स्थापित किए गए। केंद्रीय परिचालन आयोग की पहली बैठक एक महीने के भीतर ही हुई और धरातल पर इसकी कार्रवाई भी देखी जा सकती थी। राज्य सरकार ने चार राज्य सरकारों के स्कूलों को सी.बी.एस.ई. से संबद्ध करने का प्रस्ताव दिया था। स्कूलों को आपस में जोड़ने के प्रस्ताव को सहमति मिल गई थी। यह भी तय हुआ कि नए केंद्रीय विद्यालय एवं नवोदय विद्यालय के स्थापित करने और शिक्षकों के लिए स्वास्थ्य बीमा प्रस्ताव हेतु आर्थिक सहायता के अलावा जारी योजनाओं के लिए प्रस्तावों को भी आर्थिक सहायता प्रदान की जाएगी।

एक शुरुआत हो चुकी थी।

पाशेपदा में डिजिटल क्रांति

जब मैं पाशेपदा नाम के गाँव में जिला परिषद् के स्कूल में पहुँचा, तब मैंने वहाँ अद्भुत दृश्य देखा। भारत सरकार के स्कूल एवं शिक्षा सचिव के रूप में महाराष्ट्र का यह मेरा पहला दौरा था। एक अधिकारी, जो कि महाराष्ट्र के नहीं थे, उन्होंने मुझे पाशेपदा जाने की सलाह दी थी। वहाँ के शिक्षक संदीप गुंड से मेरी मुलाकात हुई और वही मुझे लेकर स्कूल पहुँचे। यह स्कूल नियमित बिजली की आपूर्ति न होने के बावजूद पूरी तरह से डिजिटल था।

जिला मुख्यालय थाणे से 80 कि.मी. दूर और ब्लॉक मुख्यालय शाहपुर ब्लॉक से 40 कि.मी. आगे स्थित पाशेपदा एक छोटा सा गाँव है। संदीप गुंड की जिला परिषद् प्राथमिक शिक्षक के रूप में यहाँ पहली नियुक्ति थी और इसकी जनसंख्या सिर्फ 350 थी। इस गाँव तक पहुँचना वाकई कठिन था, क्योंकि गाँव का अंतिम बस अड्डा 2 कि.मी. दूर था। हालाँकि वह शिक्षक अपने काम को शुरू करने में उत्सुक था। जब वह अपनी मंजिल पर पहुँचा, तब उसने उस स्कूल के जर्जर भवन को देखा, जहाँ के कुल बच्चों की 50 प्रतिशत ही उपस्थिति थी। न तो वहाँ के बच्चे और न ही उनके माता-पिता इस स्कूल और इसके शिक्षकों से किसी तरह की उम्मीद रखते थे। मगर गुंड बहुत ही आशावादी थे और अपने विद्यार्थियों के प्रति उनके बेहतर सपने थे।

गुंड ने देखा कि बच्चों में चलते-फिरते चित्रों और स्क्रीन के प्रति रुचि थी। इसलिए उन्होंने शिक्षा के लिए कंप्यूटर को उपकरण के रूप में इस्तेमाल करने का तय किया। उन्होंने बताया कि एक शिक्षक के रूप में उन चीजों पर ध्यान देना तय किया, जिनमें बच्चों की बहुत ही रुचि थी। आत्मरुचि ही सीखने की इच्छा की तरफ प्रेरित करती है और सीखने की प्रक्रिया में जरूरी एकाग्रता, शारीरिक व मानसिक हिस्सेदारी को भी बढ़ाती है। उन्होंने एक एन.जी.ओ. से एक पुराना कंप्यूटर दान-स्वरूप लिया, जो कि उस स्कूल का पहला डिजिटल उपकरण था। कंप्यूटर पर प्रयोग करते हुए उन्होंने बच्चों के लिए सरल शिक्षा के पाठ तैयार किए। स्क्रीन पर चित्र बनाए और पी.पी.टी. शो बनाए। टी.वी. की तरह नजर आनेवाले उस कंप्यूटर ने बच्चों को बहुत आकर्षित किया था।

गुंड को पहले चरण में ही बच्चों की पूरी उपस्थिति की सफलता मिल गई थी। तकनीक का बेहतर इस्तेमाल करते हुए उन्होंने स्वयं ही शोध किया और पता लगाया कि क्या चीज अधिक प्रभावशाली है तथा उसकी कमियाँ व अच्छाइयों पर भी ध्यान दिया। उन्होंने अपने स्वयं की पद्धति तैयार की, जो कि डिजिटल शिक्षा पर आधारित क्रियाशीलता थी और उनकी इसी नई खोज ने उन्हें राज्य में पहचान और पुरस्कार भी दिलाया।

आज पाशेपदा जिला परिषद् स्कूल के बच्चे बस्तों से मुक्त हैं। हर बच्चे के पास पी.डी.एफ. पाठ्य-पुस्तकों वाले टैबलेट हैं और उनके संदर्भ भी उनमें अपलोड हैं। निजी टैबलेटों में विद्यार्थियों की वर्कशीट और स्कूलों के काम के प्रोजेक्ट भी सुरक्षित हैं। इसने एक विकास की स्थिति उत्पन्न की है। परीक्षाएँ ऑनलाइन होती हैं और इसीलिए रिजल्ट भी तुरंत मिल जाते हैं। विद्यार्थी अपना गृह कार्य नोटबुक में करते हैं, जिससे उनकी लेखन क्षमता में भी सुधार हुआ है।

इससे स्वयं शिक्षा को भी बढ़ावा मिला है। विद्यार्थी और शिक्षक स्क्रीन पर ही समझते व सीखते हैं तथा कक्षाओं का कार्य-संचालन भी इसी माध्यम से होता है। आसपास के वातावरण से होनेवाली शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिलता है। विद्यार्थी बाहर किए गए प्रोजेक्ट पर आधारित वीडियो बनाते हैं। टैबलेट का इस्तेमाल लेक्चर, कक्षाओं के क्रिया-कलाप और विद्यार्थियों के जवाब उन्हीं की आवाज में रिकॉर्ड के लिए भी होता है। कभी-कभी वे टैबलेट को अपने घर भी ले जा सकते हैं, ताकि उनके परिवार भी उसे टी.वी. से जोड़कर अपने बच्चों की क्षमता देख सकें। अभिभावकों को स्कूल में हो रहे क्रिया-कलापों के लिए भी इसकी आवश्यकता महसूस की गई थी।

इस समय वह स्कूल पूरी तरह से डिजिटल उपकरणों से सुसज्जित है; जैसे—पारस्परिक स्मार्ट बोर्ड, आई.आर. कैमरा, प्रोजेक्टर, मॉनीटर, इ-डेस्क, इ-पोडियम और डिजिटल लाइब्रेरी, जो कि वाई-फाई के माध्यम से विद्यार्थियों की पहुँच में भी है। इसमें विषय से संबंधित स्टूडियो भी तैयार किया गया है, साथ ही वैश्विक वास्तविक कक्षाएँ और टूर भी आयोजित किए जाते हैं।

वे सभी कंप्यूटर सौर ऊर्जा से ही संचालित होते हैं तथा उनमें एक ही बार 1.25 लाख रुपए का निवेश हुआ है। वह सोलर इकाई कहीं भी ले जा सकनेवाली और उसके चैनल भी मोड़कर रखे जा सकते हैं। एक बार चार्ज होने के बाद स्कूल के सारे उपकरण पाँच से छह घंटों तक संचालित होते हैं।

स्कूल के विद्यार्थियों की क्षमता पर अपने शोध से गुंड ने डिजिटल शिक्षा के लाभों को भी समझा। इससे बच्चों में समझ बढ़ती है तथा उनकी स्मरण क्षमता में भी सुधार होता है। इसने बच्चों की उपस्थिति और निरंतरता को भी बढ़ाया है। बच्चों के माता-पिता और यहाँ का समुदाय भी इन परिवर्तनों से खुश है और उसे यकीन है कि डिजिटल शिक्षा से उनके बच्चों का भविष्य उज्ज्वल होगा।

बाद में गुंड ने डिजिटल स्मार्ट स्कूल का भी मॉडल तैयार किया था।

हालाँकि इसका विकास धीरे-धीरे होता गया, क्योंकि यह वित्त की उपलब्धता पर निर्भर था। इसके लिए शुरुआती सहयोग चंदे और श्रम के माध्यम से सामुदायिक व्यवस्था में ही प्राप्त हुआ था। इसमें कुछ एन.जी.ओ. और दानकर्ता भी शामिल हो चुके थे।

स्कूली शिक्षा विभाग के प्रोत्साहन से राज्य भर में डिजिटल स्कूल के आत्म-प्रेरित चालक की क्षमता को दोहराए जाने और विस्तार दिए जाने की आवश्यकता है।

महाराष्ट्र राज्य सरकार ने स्कूली बच्चों की उपलब्धियों में सुधार लाने के लिए 'प्रगत शैक्षणिक महाराष्ट्र' (पी.एस.एम.) शुरू किया है। पी.एस.एम. की संकल्पना राज्य के मुख्यमंत्री देवेंद्र फणनवीस के प्रयास से हुई, जिसका उद्देश्य राज्य में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा स्थापित करना था। राज्य शिक्षा मंत्री विनोद तावड़े ने मुख्य सचिव, स्कूली शिक्षा नंद कुमार के साथ पी.एस.एम. कार्यक्रम की शुरुआत की थी।

पी.एस.एम. ने राज्य भर में शिक्षण का बेहतरीन प्रदर्शन किया था। संदीप गुंड तकनीकी गुणवत्ता से युक्त शिक्षकों में से एक थे। यह एक ऐसे आत्म-प्रेरित शिक्षकों का समूह था, जिसने महाराष्ट्र में डिजिटल स्कूल आंदोलन का नेतृत्व किया था।

जिला परिषद् स्कूल पहुँचकर मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला। गुंड ने स्पष्ट रूप से दिखा दिया था कि यह हो सकता था। यह एक ऐसी कहानी थी, जो कि सुनाई जा सकती थी। यह एक ऐसी कोशिश थी, जिसे दोहराया गया, मानक बनाया गया और रखा गया। इसमें देश के दूर-दराज के इलाकों में तकनीक के इस्तेमाल से शिक्षा पहुँचाने की क्षमता थी।

महाराष्ट्र में डिजिटल स्कूल आंदोलन जोर पकड़ चुका था। लगभग 89 प्रतिशत से अधिक सरकारी स्कूलों में डिजिटल शिक्षा लागू हो चुकी थी और 326 करोड़ रुपए का इंतजाम भी इन स्कूलों को ऊपर उठाने के लिए लोगों के सहयोग से किया जा चुका था। इस सफलता का श्रेय संदीप गुंड जैसे शिक्षकों के अथक प्रयासों को ही जाता है, जिन्होंने सरकारी स्कूल में डिजिटल शिक्षा की नींव रखी, जो कि बहुत से लोगों की कल्पना से भी परे था।

कोई भी खबर बुरी खबर है... या फिर वे उसे ऐसा ही पेश करेंगे

एक अंग्रेजी दैनिक ने काफी शोर-शराबा मचाया था कि “एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्य-पुस्तक में नक्सली नेता किशनजी पर एक अध्याय है।” यह खबर 30 मई, 2017 को प्रकाशित हुई थी। इसका संदर्भ था—किशनजी एक नक्सली नेता था, जो कि 24 नवंबर, 2011 को बंगाल-झारखंड की सीमा पर कोबरा बटालियन के द्वारा मार दिया गया था। उसमें आगे लिखा था कि “एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्य-पुस्तक में नक्सली नेता किशनजी पर लेखन के लिए एन.सी.ई.आर.टी. की आलोचना हो रही है।”

चूँकि यह खबर एक प्रमुख अंग्रेजी अखबार में प्रकाशित हो चुकी थी, इसलिए अब इसे वेद वाक्य के रूप में लिखा गया था। इस विषय पर काफी हो-हल्ला मचाया गया और स्पष्टीकरण भी माँगा गया। जो कुछ भी प्रकाशित हुआ था, उसे सच माना गया था।

इस विषय का संबंध एन.सी.ई.आर.टी. की कक्षा दस की राजनीति विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक के अध्याय 6 ‘लोकतांत्रिक राजनीति-II’, जो पृष्ठ संख्या 76 पर है, से था। इस अध्याय में लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका, संवैधानिक रूपरेखा की रचना और सरकार की कार्यप्रणाली पर चर्चा थी। इसमें पृष्ठ संख्या 76 में ‘राजनीति में नैतिक बल’ के शीर्षक से एक काल्पनिक वार्ता का प्रस्तुतीकरण था। यहाँ देश के विभिन्न भागों में लोगों का बड़ा आंदोलन चलानेवाली चार महिलाएँ राजनीतिक संगठनों की भूमिका पर किशनजी के विचारों पर चर्चा करती हैं। उसके अनुसार, लोगों के जीवन के किसी भी पहलू में मौलिक परिवर्तन या मौलिक सामाजिक परिवर्तन केवल राजनीतिक संगठनों के माध्यम से ही संभव है।

यह पाठ्य-पुस्तक मार्च 2007 में प्रकाशित हुई थी। पृष्ठ 76 पर प्रकाशित इस विवरण के पीछे की वजह थी किशन पटनायक (1930-2004), जो कि सन् 1962 में उड़ीसा के संभलपुर से संसद् सदस्य चुना गया था। उसकी भूमिका एक बड़े राजनेता की थी। उसके व्यक्तिगत जीवन की ईमानदारी और उसकी बौद्धिक प्रतिबद्धता में असत्यता के अभाव ने नई पीढ़ी को उसमें एक बुजुर्ग सक्रियतावादी देखने में सहायता की, जिसे वे अब मुख्य धारा की राजनीति में नहीं पाते हैं। उसकी मृत्यु सन् 2004 में हो चुकी थी।

अखबार के संवाददाता ने इन तथ्यों को परखने पर ध्यान नहीं दिया और कहानी को प्रकाशित कर दिया, जिसके कारण काफी भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई।

जब तथ्यों की जानकारी अखबारों के सामने लाई गई, तब भी किसी तरह की क्षमा-याचना नहीं की गई थी। उसे सिर्फ एन.सी.ई.आर.टी. के विवरण के रूप में प्रस्तुत किया गया था। केवल मीडिया सच्चाई को विभिन्न रूपों में प्रकाशित करने के लिए स्वतंत्र है और फिर उससे पल्ला झाड़ लेने के लिए भी।

शिक्षा के क्षेत्र के साथ क्या गलत हुआ? क्या इसका कोई उपाय है?

अधिकतर बच्चों को स्कूल भेजने के अलावा जो कुछ भी गलत हो सकता था, वह भारत में स्कूली शिक्षा के साथ हुआ। यह स्थिति बहुत ही भयावह है और टाइम बम की सुई चल रही है। दुर्भाग्य से, इसे एक संकट के रूप में नहीं लिया जाता है, क्योंकि यह एक नजर आनेवाला संक्रामक नहीं है। इसलिए निर्णय लेनेवालों ने इन घावों को बढ़ने दिया। अन्य बहुत सी सरकारी योजनाओं की तरह इन पर चिंतन तो बहुत हुआ, पर काम मुश्किल से ही हुआ। किसी भी तरह के कार्य के लिए सबसे पहले सामने आए संकट को स्वीकार करना पड़ता है तथा हाल ही में हो रही गलतियों को भी महसूस करना चाहिए। इसके लिए ऐसी कार्य-योजना होनी चाहिए, जो कि राजनीतिक रूप से स्वीकार्य, सामाजिक रूप से पसंद की जानेवाली, तकनीकी रूप से सक्षम और आर्थिक रूप से व्यावहारिक हो। इसमें किसी नीति की आवश्यकता नहीं है। इस तरह की नीतियाँ तो बहुत हैं, जरूरत है कार्य-योजना की। क्या किया जाना चाहिए और यह कैसे होगा? इसे करेगा कौन? या यह कब पूरी होगी? लोकतंत्र में अंतिम निर्णय लेनेवाला राजनीतिक व्यक्ति होता है। (वैसे, यह बात अलग है कि न्यायालय धीरे-धीरे इस ढेर को कुतरता जा रहा है।) दुर्भाग्य से भारत में शिक्षा के क्षेत्र का राजनीतिकरण हो चुका है और शिक्षक एक राजनीतिक औजार के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। राजनीतिक निर्णय लेनेवाले इस स्थिति को सुधारने के बजाय इन औजारों का इस्तेमाल अपने राजनीतिक हितों के लिए करते हैं। बिना राजनीतिक इच्छा-शक्ति के कुछ भी सही नहीं होगा। एन.डी.ए. सरकार के पास जनादेश है। क्या यह जनादेश कार्य में परिवर्तित होगा? यह एक बड़ा प्रश्न है। शुरुआती वर्षों में शिक्षा पर दिए गए ध्यान ने बहुत कुछ करने के लिए छोड़ रखा है। शिक्षा का बजट आवंटन वाकई नीचे गिरा है और सरकार के शुरुआती ढाई वर्षों में पाँच अलग-अलग अधिकारी स्कूली शिक्षा विभाग के प्रमुख रह चुके हैं।

आर्थिक आवंटन के विषय पर कई तरह की समस्याएँ थीं।

आर.टी.ई. कानून की धारा 7 में वित्त और अन्य जिम्मेदारियों के लिए निम्नलिखित प्रावधान हैं—

1. इस कानून के प्रावधानों के संचालन के लिए धन प्रदान करने की केंद्र व राज्य सरकारों की सामूहिक जिम्मेदारी है।

2. केंद्र सरकार इस कानून के प्रावधानों के लिए पूँजी एवं खर्च का अनुमान निर्धारित करेगी।

3. केंद्रीय सरकार राज्य सरकारों को जो आर्थिक सहायता प्रदान करेगी, उसके खर्च का प्रतिशत उपधारा (2) के अनुसार, समय-समय पर राज्य सरकारों के साथ परामर्श से निर्धारित होगा।

4. केंद्रीय सरकार राष्ट्रपति से धारा 280 के नियम (3) के उपनियम (डी) के तहत वित्त आयोग के संदर्भ से राज्य सरकार को और भी आर्थिक सहायता की जाँच का अनुरोध कर सकती है, ताकि राज्य सरकार इस कानून के प्रावधानों के संचालन हेतु आर्थिक सहायता प्रदान कर सके।

5. उपधारा (4) में निहित होने के बावजूद राज्य सरकार उपधारा (3) के अंतर्गत केंद्र सरकार द्वारा राज्य सरकार को प्रदान की गई आर्थिक सहायता एवं कानून के प्रावधानों के लागू होने के लिए अन्य स्रोतों से धन उपलब्ध कराने का ध्यान रखेगी।

6. केंद्रीय सरकार—(अ) धारा 29 के अंतर्गत शैक्षणिक प्राधिकारियों की सहायता से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा तैयार करेगी; (ब) शिक्षकों के प्रशिक्षण का मानक तैयार करेगी; (स) राज्य सरकार के लिए अनुसंधान, योजना और क्षमता विकास हेतु तकनीकी सहयोग प्रदान करेगी।

इस प्रकार, कानून के अंतर्गत केंद्रीय सरकार निर्धारित खर्च का प्रतिशत आवंटित कर सकती है।

इस योजना, जिसमें सर्व शिक्षा अभियान भी शामिल है, को इस रूप में तैयार किया गया है कि खर्च का 60 प्रतिशत आवंटन केंद्र सरकार से और 40 प्रतिशत राज्य सरकारों से आएगा। (उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के राज्यों और जम्मू व कश्मीर के लिए 90 प्रतिशत केंद्र और 10 प्रतिशत राज्य ही आवंटित करेंगे।)

हालाँकि जमीनी हकीकत यह है कि केंद्रीय सरकार कुल खर्च का सिर्फ 30 से 40 प्रतिशत ही सहयोग करती है। राज्य सरकारें इस विषय पर बहुत हो-हल्ला मचाती रहीं, जिनका पता इस संदर्भ में लिखे पत्रों से चलता है; पर इसका कोई असर नहीं था। यह स्थिति थोड़ी-बहुत ही नियंत्रण में आई, क्योंकि तेरहवें वित्त आयोग ने शिक्षा के क्षेत्र के लिए आर्थिक आवंटनों पर प्रतिबंध लगा रखा था। हालाँकि चौदहवें वित्त आयोग की शर्तों के कारण बाद में इन

आवंटनों में काफी वृद्धि हुई थी। इस स्थिति ने भी एक गंभीर संकट पैदा कर दिया था।

केंद्रीय सरकार के पास इस सहयोग को औपचारिक रूप से कम करने और इसे वास्तविक सहयोग के रूप में लाने का विकल्प था; परंतु यह शायद राजनीतिक रूप से अस्वीकार था। इसलिए हमने 60 प्रतिशत की पहली जारी रखी, जबकि वास्तविक सहयोग इसका आधा ही था।

समस्या सिर्फ वित्त की ही नहीं थी, पर यह वाकई एक बड़ा मुद्दा था। देश में शिक्षा की वास्तविक समस्या सरकारी शिक्षकों को लेकर थी। इसकी शुरुआत शिक्षकों की पुरानी प्रशिक्षण संस्थाओं से था, जिसमें बेईमानी ने शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया था। शिक्षकों का चयन भी एक चतुराई भरा मामला था। इसमें आश्चर्य नहीं है कि एक पूर्व मुख्यमंत्री भी जेल में थे। राज्यों और राजनेताओं ने संरक्षण देने का आवरण तलाश लिया था। वर्ष 2017 में ऐसे 11 लाख से अधिक शिक्षक थे, जो कि पढ़ा तो रहे थे, पर उनके पास पढ़ाने की आवश्यक योग्यता नहीं थी। उन शिक्षकों को आर.टी.ई. कानून की शर्तों के अनुसार बाहर निकाल देना चाहिए; मगर कानून में परिवर्तन से ऐसे शिक्षकों को आवश्यक योग्यता हासिल करने के लिए एक अन्य खिड़की खोल दी गई थी।

वास्तव में, इन शिक्षकों को रखने के लिए प्रारंभिक शिक्षा का डिप्लोमा ऑफ एलिमेंटरी एजुकेशन (D.El.Ed) की अवधि 24 महीने से घटाकर 18 महीने कर दी गई थी।

इस संबंध में एक अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उच्च स्तर का वेतन पानेवाले उन शिक्षकों में से 25 से 30 प्रतिशत स्कूल नहीं जाते हैं। यह समस्या उत्तरी राज्यों में और भी अधिक है, जहाँ राजनीति शिक्षा पर हावी है। शिक्षकों ने भी अपनी अनुपस्थिति से बचने के लिए एक विलक्षण तरीका निकाल लिया है। ऐसे बहुत से स्थानापन्न शिक्षक भी हैं, जिन्हें इन नियमित शिक्षकों के द्वारा उनके स्थान पर स्कूल में बने रहने के लिए भुगतान किया जाता है। इस स्थिति में कुछ दिनांक रहित आवेदन भी नियंत्रक अधिकारी के पास रहते हैं, जो कि उस नाटक में शामिल रहता है। वैसे, अपवाद-स्वरूप शिक्षकों में सुरक्षा-बोध और इनमें से अधिकतर में जिम्मेदारी के अभाव ने स्थिति पर भयावह तरीके से असर डाला है।

शिक्षकों का स्थानांतरण भी एक बड़ा उद्योग है, जिसमें राजनेता पहले से ही शामिल हैं। नौकरशाहों का भी काफी समय इन स्थानांतरणों के प्रबंधन और नौकरी के मामलों को देखने में व्यतीत होता है। उनमें से अधिकतर तो न्यायालय में ही खत्म होते हैं।

सबसे बड़ा सवाल है कि इस समस्या से कैसे छुटकारा पाया जाए? इसका एक समाधान तो हो सकता है, पर इसके लिए व्यक्ति को अलग तरह से सोचना पड़ेगा।

सरकारी स्कूलों में प्रति बच्चे पर होनेवाला वार्षिक खर्च 18,000 रुपए है। क्या इस रकम को बच्चे में बेहतर परिणाम लाने के लिए अच्छे ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है?

बहुत से अध्ययनों से पता चलता है कि गरीब माता-पिता भी स्कूली शिक्षा के लिए भुगतान करने के लिए राजी थे। उनमें से अधिकतर लोग तो पहले से ही ऐसा कर रहे थे। जेम्स टूली ने अपनी एक शोधपरक पुस्तक 'द ब्यूटीफुल ट्री' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि चूँकि माता-पिता द्वारा वित्त-पोषित निजी स्कूलों की शिक्षा का स्तर सरकारी क्षेत्र की शिक्षा से बेहतर होता है, परिणामतः शिक्षा का सामाजिक काम अनुपातिक रूप से भी बेहतर होगा। इनका निष्कर्ष है कि निजी स्कूलों का स्तर सरकारी स्कूलों से बेहतर मालूम पड़ता है। लेखक की खोज है कि "अंग्रेजों द्वारा बदली गई सार्वजनिक व्यवस्था की नींव से पहले लगभग सभी गाँवों में विद्यालय मौजूद थे।" टूली इस खूबसूरत पेड़ को उखाड़ने के लिए अंग्रेज सरकार को ही दोष देते हैं और वे लिखते हैं कि सन् 1931 में महात्मा गांधी ने रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स में लंदन में अपने तर्क को बल दिया था। अंग्रेजों ने निजी शिक्षा व्यवस्था को उखाड़ दिया, जो कि गरीब व अमीर दोनों की सेवा करती थी और भारत को पचास या सौ साल पहले से भी अधिक अशिक्षित बना दिया।

"उन्होंने पहले से ही फलती-फूलती निजी शिक्षण व्यवस्था को बदल दिया।"

टूली पब्लिक रिपोर्ट ऑन बेसिक एजुकेशन इन इंडिया, 1999 का उद्धरण देते हुए निजी स्कूलों की सफलता के रहस्य के बारे में बताते हैं, "निजी स्कूलों में शिक्षक प्रबंधकों के प्रति जवाबदेह होता है (जो कि उन्हें नौकरी से निकाल भी सकता है) और उन्हीं के कारण माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल से निकाल भी सकते हैं। सरकारी स्कूलों में जवाबदेही की यह श्रृंखला काफी कमजोर है, जबकि शिक्षकों के लिए वेतन के साथ स्थायी नौकरी है और उन्नति का संबंध क्षमता से नहीं है।" यह आकलन वर्ष 2015 में एन.सी.ई.आर.टी. के द्वारा नेशनल

अचीवमेंट सर्वे में किया गया था। सर्वे का निष्कर्ष था कि 'निजी प्रबंधनवाले स्कूलों का परिणाम सरकार द्वारा सहायता प्राप्त स्कूलों से बेहतर होता है।'

देश में सार्वजनिक और निजी स्कूलों का साथ-साथ अस्तित्व है, पर सरकार द्वारा संचालित और निजी स्कूलों के संबंध प्रतिकूलता वाले हैं। निजी स्कूलों को बुरा-भला कहने या फिर उन्हें परेशान करने की धमकी देने के बजाय क्या हमें एक ऐसा मानक तैयार करने के बारे में नहीं सोचना चाहिए, जहाँ दोनों क्षेत्रों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा हो और सरकार जो पैसा गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए स्कूली शिक्षा पर खर्च करती हो, उसकी पूरी कीमत वसूली जा सके। कुछ देशों में स्कूल वाउचर व्यवस्था की जा रही है और इसमें थोड़ी सफलता भी मिली है। वाउचर या डेबिट कार्ड के रूप में एक बच्चे को क्यों न जागरूक किया जाए, जिसका वह सार्वजनिक या निजी स्कूलों में इस्तेमाल कर सके? गुणवत्तावाले स्कूल की सुनिश्चितता सूचीबद्धता के माध्यम से प्रदान की जा सकती है। ऐसा हो सकता है और संभवतः होना भी चाहिए। हालाँकि इसके लिए राजनीतिक इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होगी, जिसे शीघ्र ही शुरू करने की आवश्यकता है।

□

सहकर्मियों का बहुमूल्य साथ

सही का समर्थन

यह 2003 का वर्ष था और मैं अपने केंद्र की प्रतिनियुक्ति से हाल में ही लौटा था। प्रशासन के मामले में उत्तर प्रदेश का स्तर काफी नीचे जा चुका था। मैं यहाँ उद्यान विज्ञान विभाग में सचिव के पद पर नियुक्त था। इस मंत्रालय की बहुत ही विचित्र पहचान थी। यहाँ अपने कार्य की शुरुआत में ही मुझे एक फरमान मिला। निर्देश बहुत ही स्पष्ट और लिखित था कि राज्य के उद्यान विज्ञान निदेशालय का एक अधिकारी निलंबित होने वाला था; मगर उसका कोई कारण नहीं बताया गया था। मैं उस अधिकारी को जानता था और उसकी योग्यता व ईमानदारी का कायल था। (एक ऐसा राज्य, जो कि भ्रष्टाचार की वजह से पहचाना जाता हो, वहाँ ये गुण मुश्किल से मिलते थे।) मैंने मंत्रीजी से इस उतावले भरे निर्णय की वजह पूछी थी। उन्होंने जो कुछ बताया, उससे मैं भौचक्का हो गया। मंत्रीजी उस अधिकारी को निलंबित करने पर आमादा थे, क्योंकि अधिकारी ने उनसे आकर मुलाकात नहीं की थी। वैसे, यह वजह काफी नहीं थी। फिर भी मैंने उस अधिकारी से उसकी बात जानने के लिए बात की। उसने बताया कि वह मंत्रीजी से कई बार मिला था, पर उस तरह से नहीं जिस तरह से वे चाहते थे। मंत्री उस अधिकारी से 'नजराना' चाहता था। मैंने इस स्थिति की जानकारी मुख्य सचिव को दी, क्योंकि मैं एक ऐसे अधिकारी का निलंबन नहीं चाहता था, जो कि मंत्री से उसके तरीके से नहीं मिला। मुख्य सचिव ने इस स्थिति के समाधान का एक तरीका सुझाया। मौजूदा व्यवहार के अनुसार मंत्रीजी के साथ तीव्र असहमति की स्थिति में मैं फाइल को मुख्य सचिव से होकर भेज सकता था, जो कि मैंने किया भी। उस अधिकारी के निलंबन के खिलाफ एक मजबूत मामला बनाया गया, फिर फाइल मुख्य सचिव के पास भेज दी गई और वह फाइल मंत्रीजी के पास कभी नहीं पहुँची। (कभी-कभी लालफीताशाही भी फायदेमंद होती है।) मंत्री लगातार गुस्से में भनभनाता रहा, पर वह मुख्य सचिव के सामने इस मुद्दे को उठाने का साहस न कर सका, क्योंकि मुख्य सचिव की भी पहचान एक सत्यनिष्ठ व ईमानदार अधिकारी की थी।

वह अधिकारी तो निलंबित नहीं हुआ, पर मंत्रीजी की हताशा ने मुझे असमय किसी अन्य बहाने से स्थानांतरित कर दिया। उस समय तक कोई भी यह मान सकता था कि नौकरशाह के लिए स्थानांतरण मृत्यु की तरह अपरिहार्य था।

एक अन्य पुरस्कार

प्रादेशीय इन्वेस्टमेंट कॉरपोरेशन ऑफ उत्तर प्रदेश (PICUP) सन् 2005 में बदल चुका था। इसे पुनः सफलता मिल चुकी थी। हालाँकि इस वित्तीय संस्थान के पुनः सुधार से आशय था कि अब यह फिर से दुधारू हो सकता था। संस्थान में और भी माँग हुई थी। मुख्यमंत्री को मुझे वहाँ से हटाने में काफी दबाव का सामना करना पड़ा था, क्योंकि मैं वहाँ से हटना नहीं चाहता था। मैं तुरंत ही वहाँ से हटाया नहीं गया। इस स्थिति ने सभी को आश्चर्य में डाल दिया था। मेरा तबदला ग्रामीण विकास में कमिशनर के पद पर हो गया था।

एक बार मुख्यमंत्री ग्रामीण विकास से संबंधित क्षेत्रीय समीक्षा कर रहे थे। ऐसी ही एक बैठक इलाहाबाद में थी और उन्होंने इस क्षेत्र में किए गए प्रयासों की सराहना की थी। हालाँकि दोपहर में उन्होंने कुछ कनिष्ठ अधिकारियों के निलंबन की भी घोषणा कर दी थी। मुझे इसका पता अगले दिन के अखबार से चला था। चूँकि इस संबंध में किसी तरह का औपचारिक पत्र नहीं आया था, इसलिए मैंने कोई कार्रवाई नहीं की। मुख्यमंत्री के सचिव ने मुझे बुलाया और मुझे उन अधिकारियों को निलंबित न करने की वजह पूछी, जिसके बारे में मुख्यमंत्री ने प्रेस कॉन्फ्रेंस में घोषणा कर दी थी। उनके स्वर में धमकी थी। उस बैठक में सभी कुछ बहुत ही सहजता से हो रहा था और किसी भी निलंबन का संकेत नहीं था। हालाँकि सुर्खियाँ बनाने के लिए कोई खबर तो होनी ही चाहिए थी और जब सबकुछ सहज हो, तब किसी तरह की खबर नहीं बन सकती।

उन दिनों का यह रिवाज था कि कुछ बलि के बकरे भी होने चाहिए थे। निलंबित अधिकारियों की एक लंबी सूची खबर बनाने के साथ-साथ अधिकारियों को अनुसरण करने की चेतावनी का भी काम करती थी और यही काम हुआ था। उनके अपराध की जानकारी नहीं थी। वास्तव में, सचिवों और विभाग प्रमुखों से उन निलंबित हो रहे लोगों के खिलाफ आरोप तलाशने के लिए कहा गया था। इसलिए वे बिना मुकदमे के ही दोषी बनाए गए थे। 'न्याय' इस रूप में था कि यह मध्य युग के लिए एक शर्म की चीज थी।

कुछ नौकरशाहों ने अनुसरण का विकल्प चुना। शायद उन्हें प्रतिशोध का भय था या फिर पुरस्कार की उम्मीद थी। मैं झुकने के लिए तैयार नहीं था और उसे 'शक्ति-संपन्न' सचिव को वापस कर दिया। उन्होंने शुरू में नाराजगी दिखाई और गंभीर परिणामों की धमकी दी। हालाँकि शीघ्र ही उन्हें महसूस हो गया कि इसका मुझ पर कोई असर नहीं पड़ा और फिर उन्होंने अपने कहे शब्दों के लिए उदारतापूर्वक माफी भी माँगी। मैंने जाँच के बाद उन अधिकारियों को निलंबित करने से मना ही नहीं किया, बल्कि उन पर आरोप भी तलाशने से मना कर दिया, जिन्हें उच्च स्तरीय अधिकारी निलंबित करने वाले थे। यह वाकई एक जोखिम का काम था, पर यह जोखिम लेने लायक था।

अगली सुबह मैं स्वेच्छा से ग्रामीण विकास में कमिशनर के पद को सँभालने चला गया। सरकार भी मेरे अनुरोध पर राजी हो गई थी, क्योंकि विभाग में मेरी मौजूदगी उन्हें उलझनों में डाले रहेगी।

निलंबन के मामले में सरकार हमेशा बड़ी तोपों का इस्तेमाल करती थी। असहाय नौकरशाहों पर ताकतवर और मन-बहलाव में लगे रहनेवाले लोगों की सहायता से दोषारोपण और चोट करती थी। इसलिए सामूहिक निलंबन खबरें बनते रहते थे। हालाँकि सौभाग्य से जब गोरखपुर में अगली समीक्षा हुई, तब ग्रामीण विकास विभाग के अधिकारियों का नाम उस सूची में नहीं था। मुझे नहीं पता कि मुख्यमंत्री के मुख्य सचिव को दिए मेरे पत्र ने उन अधिकारियों के सामूहिक निलंबन के दुःख को कम किया, पर इस सच्चाई से मुझे सुखद अनुभूति हुई कि मैंने अपनी अंतरात्मा की आवाज को सुना और यही मेरा सबसे बड़ा पुरस्कार था।

श्री हरीश चंद्र गुप्ता का साथ देने का निर्णय

अपने कार्यकाल की शुरुआत से ही मैंने अपने सहकर्मियों का साथ दिया, खासतौर से उन लोगों का, जिन्हें बिना उनकी गलती के ही परेशान किया गया था। ऐसी ही दो घटनाएँ हैं।

जब मैं भारत सरकार में कोयला सचिव के पद पर था, तब मुझे पर उस वक्त सवाल उठे थे, जब मैंने 1971 बैच के आई.ए.एस. अधिकारी श्री एच.सी. गुप्ता (पूर्व कोयला सचिव) का बचाव किया था, जिन पर अन्य लोगों के साथ कोल ब्लॉक आवंटन से संबंधित मामलों में आरोप लगे थे। ऐसे बहुत से सवाल उन लोगों के द्वारा पूछे गए थे, जिन्हें वास्तविकता की जानकारी नहीं थी और मेरे शुभचिंतकों ने भी इस जोखिम में फैसले की मेरी इच्छा पर सवाल उठाए थे।

सबसे पहले तो मुझे पूरा यकीन था कि श्री हरीश चंद्र गुप्ता बेकसूर थे। किसी भी सचिव को उन तथ्यों की जाँच के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता था, जो कि प्रत्यक्षतः गलत नहीं नजर आ रहे थे। यदि इसे प्रशासन में समर्थन दिया जाता, तब सभी निर्णय रुकने लगते।

दूसरा, मुझे इस बात का भी पूरा यकीन था कि उनके खिलाफ लगाए गए आरोपों के पीछे किसी तरह का आपराधिक उद्देश्य या बदनीयत की भावना थी। यह तो श्री गुप्ता के खिलाफ फैसले से पैदा हुआ था। एक फैसले से तो बिल्कुल ही स्पष्ट था कि उन पर लगाए गए आरोप के प्रमाण यह नहीं दर्शाते हैं कि उन्होंने कोल ब्लॉक के आवंटन में आरोपी कंपनी के लिए किसी भ्रष्ट या गैर-कानूनी तरीके का इस्तेमाल किया है।

अंततः, मैंने ऐसा इसलिए किया कि श्री एच.सी. गुप्ता दाग-रहित ख्याति के अधिकारी रहे हैं और मैं इसका साक्षी था। साथ ही यह मेरी व्यक्तिगत सोच है कि यदि हम ईमानदार लोगों के पीछे पड़ेंगे, तब समाज और प्रशासन में या तो बेईमानी करनेवाले या फिर धोखेबाज और अकर्मण्य लोग ही रहेंगे।

श्री गुप्ता का साथ देने का निर्णय मेरा निजी था, जो कि मेरे विश्वास से पैदा हुआ था, इसलिए इसके लिए जो भी कीमत चुकानी पड़े, मैंने इसकी परवाह नहीं की थी। मुझे नहीं पता कि ईमानदार रहने की मुझे कोई कीमत चुकानी पड़ी, पर मुझे आत्म-संतोष था कि मैंने जो कुछ भी किया, अपनी अंतरात्मा की आवाज के अनुसार किया था।

सी.बी.एस.ई. के प्रश्न-पत्र चोरी से बाहर आए

सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजुकेशन (सी.बी.एस.ई.) की अध्यक्ष श्रीमती अनीता करवल के बचाव का मामला पूरी तरह से अलग ही था। सी.बी.एस.ई. केंद्र सरकार की एक संस्था है, जो कि उससे संबद्ध स्कूलों की कक्षा 10 और 12 की परीक्षाओं का संचालन करती है। यह संस्था मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अंतर्गत आती है। इस संस्था की प्रतिष्ठा है कि 20,000 से अधिक स्कूल इस बोर्ड से संबद्ध हैं और बहुत अधिक इस संबद्धता को हासिल करने के लिए लाइन में हैं। अनीता करवल ने सी.बी.एस.ई. के अध्यक्ष का पद भार इस 'प्रश्न-पत्र लीक संकट' से कुछ ही महीने पहले सँभाला था। उन्होंने कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ कार्रवाई शुरू कर दी थी, जिनके निहित स्वार्थ ने बोर्ड को व्यापार में बदल दिया था और यह व्यापार उन लोगों के लिए बहुत ही फायदेमंद था। ऐसा ही एक व्यापार पुस्तकों के प्रकाशन का था, जो कि मुख्यतः एन.सी.ई.आर.टी. के कार्यक्षेत्र में आता था। करवल ने तत्परता से इस कार्य पर रोक लगा दी, जिससे कुछ लोगों को परेशानी हुई।

वर्ष 2018 की बोर्ड परीक्षा 5 मार्च को हुई। 15 मार्च को बोर्ड की अध्यक्ष और कुछ अन्य अधिकारियों को किसी मीडिया से व्हाट्सएप पर संदेश मिलता है, जिसमें एकाउंटेंसी के प्रश्न-पत्र के लीक होने का संकेत था। जैसे ही यह खबर सोशल मीडिया पर तेजी से फैली, इसने तहलका मचा दिया। सी.बी.एस.ई. के परीक्षा नियंत्रक, जो कि इस परीक्षा का संचालन कर रहे थे, उन्होंने क्षेत्रीय कार्यालयों से इसकी पुष्टि की। अब यह पता लगाना था कि प्रश्न-पत्र जिन लिफाफों में थे, क्या वे खोले जाने से पहले मुहरबंद थे? इस विषय पर जानकारी प्राप्त हुई कि लिफाफे के साथ छेड़छाड़ नहीं की गई थी। तब यह तय हुआ कि इसकी शिकायत दिल्ली पुलिस में की जाएगी। इस मामले की जाँच की गई। प्रश्न-पत्र के लीक होने की बात दो तरह से गलत साबित हुई। प्रश्न-पत्र परीक्षा शुरू होने से पहले मुहरबंद पाए गए थे और जिस समय इसकी लीक वाली सूचना बताई गई, सभी परीक्षार्थी अपने परीक्षा कक्ष में उपस्थित थे, अतः परीक्षार्थियों के पास समय से पहले इन प्रश्न-पत्रों की किसी तरह की सूचना नहीं थी। यदि कुछ एक ने इसे हासिल भी किया हो, तब भी उनके पास इससे लाभ उठाने की संभावना बहुत ही कम थी।

परीक्षार्थियों को वितरित किए जानेवाले वास्तविक प्रश्न-पत्र के ठीक वितरण से पहले सोशल मीडिया पर दिया जाना तहलका मचाने के उद्देश्य जैसा मालूम पड़ता था। एकाउंटेंसी का एक प्रश्न-पत्र क्षेत्रीय कार्यालय, देहरादून के आसपास पाया गया था। हालाँकि जाँच करने पर पता चला कि यह यू-ट्यूब पर भी उपलब्ध था और यह फर्जी भी था।

यह काम शायद पूरी व्यवस्था को अस्थिर करने के उद्देश्य से किया गया था या फिर किसी बाहरी उद्देश्य से भ्रष्ट व्यवहार के माध्यम से अपराध से संबंधित था। इसका उद्देश्य भ्रम फैलाकर सी.बी.एस.ई. की छवि को कलंकित करना था और इस तहलके को सँभाला भी नहीं जा सका।

इस पूरी घटना के पुनरीक्षण के उपरांत सी.बी.एस.ई. की अध्यक्ष ने परीक्षा नियंत्रक को इस पूरी परीक्षा को ध्यानपूर्वक समझने का निर्देश दिया। इस प्रक्रिया में उन बैंकों की भूमिका की जाँच करने के लिए भी कहा गया, जिनकी कड़ी निगरानी एवं सुरक्षा वे यह प्रश्न-पत्र रखे गए थे। प्रश्न-पत्रों की सुरक्षा और उनके वितरण को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए निर्देश जारी किए गए। इस घटना के पीछे की पूरी रूपरेखा स्पष्ट थी। बहुत से बेईमान लोग इस चलती गाड़ी में सवार हो गए और इस परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए उन्होंने आग में घी डाला। विशेष तौर से इलेक्ट्रॉनिक चैनलों ने परीक्षा के काफी बाद भी इस मामले को हवा देना शुरू कर दिया था। किंतु प्रामाणिक सूचनाएँ सिर्फ परीक्षा के ठीक पहले प्रश्न-पत्रों की उपलब्धता की बात करती थीं। ऐसा मालूम पड़ता था कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया परीक्षा को सनसनीखेज प्रक्रिया बताकर मजे ले रहा था। इस पूरे मामले में इन अफवाहों में कुछ भी नहीं मिला था। हालाँकि यह हलचल बनी रही।

यू-ट्यूब वीडियो कक्षा 10 और 12 के विषयों के झूठे चोरी किए गए प्रश्न-पत्रों के हल को चारों तरफ फैलाता रहा। ये सभी चैनल या तो बहुत पुराने या फिर झूठे प्रश्न-पत्रों को दिखाते रहे। भ्रम का एक माहौल जान-बूझकर सोशल मीडिया पर फैलाया गया और अफवाह फैलानेवाले इसमें फलते-फूलते रहे।

परीक्षा के उपनियमों के कठोरतापूर्वक लागू होने के बाद 26 मार्च, 2018 को नई तरह की कार्य-प्रणाली का पता चला। यह भी अफवाह थी कि कक्षा-12 का अर्थशास्त्र का प्रश्न-पत्र परीक्षावाले दिन ही लीक हो गया था। उस दिन

सुबह 10 बजे के बाद ही इस अफवाह ने फैलना शुरू कर दिया था। किसी अधिकारी के व्हाट्सएप पर प्रश्न-पत्र का एक हिस्सा आया और लगभग 10.30 बजे इसकी जाँच करने पर पता चला कि यह उसी दिन के प्रश्न-पत्र से मेल खा रहा था। धीरे-धीरे यह भी स्पष्ट हो गया कि हाथ से लिखा यह प्रश्न-पत्र परीक्षा के काफी पहले ही उपलब्ध था। इस लीक की जाँच और इसके पड़नेवाले प्रभाव की जानकारी के तुरंत आदेश दिए गए।

26 मार्च को देर शाम कुछ सेल फोन के फोटो उद्देश्यपूर्ण ढंग से यह बताते हुए फैलाए गए कि ये प्रश्न-पत्र बिना चिह्न वाले लिफाफे में पाए गए थे। इन्हें पुलिस को सौंप दिया गया था। शुरुआती जाँच में पता चला कि ये प्रश्न-पत्र परीक्षा से पहले वाकई कुछ बिना पहचानवाले विद्यार्थियों के समूह में पहुँच गए थे। चूँकि इनके वितरण का माध्यम सोशल मीडिया था, इसलिए यह भी अनुमान लगा लिया गया था कि इस लीक की पहुँच काफी दूर तक है।

जिस समय अर्थशास्त्र के प्रश्न-पत्र की जाँच चल रही थी, उसी समय एक अन्य शिकायत कक्षा-10 के गणित के प्रश्न-पत्र के लीक होने की 28 मार्च, 2018 को दोपहर 1.39 बजे सी.बी.एस.ई. की आधिकारिक इ-मेल पर आई। यह मेल लगभग 6.30 बजे सुबह पढ़ी गई। परीक्षा के नियंत्रक को तुरंत ही सूचित किया गया और उन्हें इसकी जाँच करने के लिए भी कहा गया। जब अध्यक्ष सुबह 8 बजे अपने कार्यालय पहुँचीं, तब यह जाँच चल रही थी। इसी बीच सुबह 7 बजे ही दिल्ली पुलिस को भी सूचित कर दिया गया था। उनसे भी इस लीक के फैलने की जानकारी प्राप्त करने का अनुरोध किया गया। 28 मार्च की सुबह इसी परीक्षा में लगभग 16 लाख विद्यार्थी बैठने वाले थे। बाद में यह भी बताया गया कि अध्यक्ष को इसकी भी तुरंत ही जाँच करनी चाहिए थी। वैसे यह व्यावहारिक रूप से संभव नहीं था, क्योंकि प्रश्न-पत्रों की जाँच के लिए परीक्षा के नियंत्रक के स्ट्रॉग रूम को खोलने की मानक प्रक्रिया है (एस.ओ.पी.-स्टैंडर्ड ओपनिंग प्रोसीजर)। बिना जाँच के किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना मुश्किल था कि इस उद्देश्यपूर्ण ढंग से लीक प्रश्न-पत्र और मूल प्रश्न-पत्र में किसी तरह की समानता थी और किसी मेल की सूचना पर किसी तरह का बड़ा निर्णय स्थिति को और भी बुरा बना सकता था। पूर्व के अनुभवों के आधार पर इस तरह के उद्देश्यपूर्ण ढंग से लीक प्रश्न-पत्रों में अधिकतर झूठे ही थे। काफी विस्तृत जानकारी के बाद यह पता चला कि इ-मेल का एक हिस्सा वास्तविक प्रश्न-पत्र से मिलता था। अब यह स्पष्ट हो चुका था कि बदमाशों ने परीक्षा के एक दिन पहले ही प्रश्न-पत्र हासिल कर लिये थे।

प्रातः 10.30 बजे यह अनुमान लगाया जा सकता था कि अब तक परीक्षा शुरू हो चुकी होगी। परीक्षा को रोकना या यह सुनिश्चित करना कि वाकई विद्यार्थियों ने लीक पेपर पाए हैं या नहीं, काफी मुश्किल काम था। दिल्ली और हरियाणा के क्षेत्रीय कार्यालयों को सँभालनेवाले यह सुनिश्चित कर सकते थे कि इन राज्यों में प्रश्न-पत्रों के लीक होने की संभावना थी, परंतु बाकी क्षेत्रीय कार्यालयों के लिए यह संभव नहीं था। वैसे, यह भी यकीन किया जा सकता था कि प्रश्न-पत्र सचमुच लीक हुए थे और ये बड़े स्तर पर हुए थे। इस संबंध में अध्यक्ष ने मानव संसाधन विकास मंत्री को भी सूचित कर दिया था। उनका प्रत्युत्तर गुप्त और तुरंत ही था, “लीक और इसके प्रयासों की जाँच का आदेश दें तथा सी.बी.आई. को भी लिखें।”

उसी दिन लगभग 3.30 बजे दोपहर को सी.बी.आई. ने दोनों प्रश्न-पत्रों की परीक्षा को दोबारा कराए जाने की घोषणा कर दी।

उस समय तक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आक्रामक हो चुका था। मीडिया ने छात्रों, अभिभावकों और स्कूलों में एक तरह की भगदड़ मचानेवाला बटन दबा दिया था। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों ही लगातार इस पतंग को उड़ा रहे थे, जिसके कारण हालात को सामान्य बनाने के प्रयास को चोट पहुँच रही थी। जब मानव संसाधन एवं विकास मंत्री को सी.बी.एस.ई. के अधिकारियों ने इस स्थिति के बारे में स्पष्ट किया, तब उन्होंने साफ निर्देश दिए कि जब तक वह अनुमति न दें, मीडिया से वे लोग एक शब्द भी न बोलें। उन्होंने मीडिया को सँभालने की जिम्मेदारी स्वयं पर ले ली, मगर इस विषय पर मीडिया से कुछ भी नहीं बोले; बल्कि मीडिया का सामना किसी अन्य उद्देश्य के लिए करते हुए इस विषय पर बहुत ही संक्षिप्त रहे।

यह एक मौलिक गलती हो चुकी थी।

28 मार्च, 2018 की शाम को मीडिया का आक्रमण अनैतिक, कपटपूर्ण और व्यक्तिगत हो चुका था। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने खासतौर से अध्यक्ष और सी.बी.एस.ई. के बारे में बहुत ही झूठी अफवाहें जान-बूझकर फैलाईं। मीडिया के एक वर्ग ने यह निष्कर्ष निकाल लिया और घोषणा कर दी थी कि परीक्षा के दौरान अध्यक्ष छुट्टी पर चली गईं

थीं। एक खबरिया चैनल ने तो अपना आदमी अध्यक्ष के पूर्व निवास अमदाबाद में यह पता करने के लिए भेजा कि कहीं वे वहाँ तो नहीं छिपी थीं। उन पर सोशल मीडिया के माध्यम से भी हमले हुए और उन्हें 'प्रधानमंत्री का आदमी' बताया गया, क्योंकि वे गुजरात कैडर से थीं। यह बिल्कुल स्पष्ट था कि मीडिया के कुछ वर्ग कितना नीचे गिर सकते थे।

अध्यक्ष मुझे लगातार इस संकट को सँभाले जाने और स्थिति के बारे में सूचित करती रहीं। मैंने उन्हें परामर्श दिया कि उन्हें स्थिति को मीडिया के सामने स्पष्ट कर देनी चाहिए। मगर मानव संसाधन विकास मंत्री का निर्देश स्पष्ट था और सी.बी.एस.ई. के अधिकारी मीडिया से दूर रहे।

दुर्भाग्यवश, मैं 28 मार्च को देहरादून अपने बीमार पिता को सँभालने गया था। उनकी स्थिति अच्छी नहीं थी और उन्हें दिल्ली लाना था। 29 मार्च को दिल्ली आते समय रास्ते में एंबुलेंस से ही मैंने मंत्रीजी प्रकाश जावडेकर से बात करने की कोशिश की, पर बात न हो सकी। अंत में, मैंने उन्हें एक संदेश भेजा—'मुझे लगता है कि अध्यक्ष को मीडिया से बात करनी चाहिए और स्थिति को स्पष्ट करना चाहिए।' उन्होंने मुझे वापस फोन किया; पर उसमें मीडिया को संबोधित करने की स्पष्टता नहीं थी। वे अभी भी इसके पक्ष में नहीं थे। मैंने उन्हें दुबारा संदेश भेजा—'कृपया इस विषय पर पुनः विचार करें। यह संदेश जा रहा है कि सी.बी.एस.ई. की अध्यक्ष कहीं छिप रही हैं। मैं राय दूँगा कि उन्हें मीडिया से बात करनी चाहिए।' शायद दबाव की वजह से उन्होंने अध्यक्ष को न्यूज चैनलों के सामने थोड़ा बोलने की अनुमति दे दी थी। चूँकि यह मुद्दा जटिल था, इसलिए थोड़ी सी बात से स्पष्ट नहीं हो सकता था और इसने स्थिति को और भी खराब कर दिया था।

मैं दिल्ली पहुँच चुका था। अपने पिता को अस्पताल में भरती कराने के बाद मैंने सामने आए इस संकट पर स्वयं को एकाग्र करते हुए बैल को सींगों से पकड़ लिया था। मैंने अध्यक्ष से सारी स्थिति की जानकारी ली और फिर मंत्रीजी से मुलाकात की। वे परेशान लग रहे थे। मीडिया भी उन पर आक्रामक था और वे उससे बच रहे थे। उन्होंने स्थिति से बचाव के लिए अध्यक्ष अनीता करवल को हटाने का परामर्श दिया। मैंने उसकी प्राथमिक जाँच रिपोर्ट को देखा। यह स्पष्ट रूप से दर्शाती थी कि उनकी तरफ से कोई गलती नहीं हुई थी। वास्तव में, वे तो शिक्षा माफिया और आक्रोशित मीडिया के बीच के झगड़े में फँस गई थीं। उन्होंने इस स्थिति को सँभालने के हर संभव प्रयास किए थे। मैंने संकट की इस घड़ी में उनका साथ देने का निश्चय किया और मीडिया का सामना खुद किया। कोयला मंत्रालय के पीयूष गोयल की तरह मीडिया का सामना करने के लिए मुझे प्रकाश जावडेकर ने प्रोत्साहित नहीं किया था। मंत्रालय का सारा मीडिया प्रबंध मंत्रीजी स्वयं ही करते थे। हालाँकि इस बार वे मुझे मीडिया को सँभालने की अनुमति देते प्रतीत हो रहे थे; लेकिन वे चाहते थे कि पी.एम.ओ. को भरोसे में लेकर ही यह हो। (यह एक संस्कृति थी, जो काफी समय से चली आ रही थी।)

30 मार्च को पी.एम.ओ. के साथ एक बैठक तय हुई। पी.एम.ओ. ने मेरा साथ दिया और दोपहर में मीडिया का सामना करने की अनुमति दी। पर यह पी.एम.ओ. के द्वारा प्रधानमंत्री की अनुमति प्राप्त करने के बाद ही संभव था। मैंने लीक हो चुके दो अन्य प्रश्न-पत्रों से संबंधित भविष्य की कार्रवाई की घोषणा के बारे में भी परामर्श दिया था। इस बार भी सहमति बन गई। अब हमारे पास मीडिया को बताने के लिए कुछ ठोस था। कक्षा 12 के अर्थशास्त्र की परीक्षा दुबारा होने वाली थी और कक्षा 10 के गणित के प्रश्न-पत्र पर निर्णय बाद में इसके लीक होने के प्रभाव की जाँच के बाद तय होगा। इसका तर्क बहुत ही सामान्य था। कक्षा 10 की परीक्षा आंतरिक परीक्षा थी और इसका प्रभाव भविष्य के प्रवेश पर प्रत्यक्षतः नहीं पड़ने वाला था। जबकि कक्षा 12 का असर अधिक था। (बाद में जाँच से पता चला कि कक्षा 10 का प्रश्न-पत्र न तो विस्तृत स्तर पर लीक हुआ था और न ही इसका असर पड़ने वाला था। इसलिए दोबारा परीक्षा कराए जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी और लगभग 16 लाख बच्चे दोबारा परीक्षा में बैठने की परेशानी से बच गए।)

30 मार्च को शाम 5 बजे एक प्रेस वार्ता आयोजित की गई। सारा मीडिया मेरा इंतजार कर रहा था और मैं उत्सुकता से पी.एम.ओ. से अनुमति का इंतजार कर रहा था। गुजरते हुए हर सेकंड के साथ असमंजस की स्थिति बढ़ती जा रही थी। आखिरकार शाम 6 बजे अनुमति आ ही गई। वाकई वह प्रेस वार्ता मेरे जीवन की सबसे कठिन थी। बाद में मैंने अपनी डायरी में लिखा था—'यह वार्ता शाम को खचाखच भरे हॉल में हुई। मीडिया की आक्रामक स्थिति उसकी बेचैनी प्रदर्शित कर रही थी। सौभाग्य से, मैंने स्वयं को शांत रखा और सवालों को तार्किक रूप से सँभालते हुए उनके जवाब दिए। मैं सरकार के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर सका और इसका उद्देश्य भी पूर्ण होता मालूम हुआ।' शायद यह इससे अधिक था। मेरे पूरे कार्यकाल की यह सबसे कठिन परीक्षा थी। मैं संतोष मैथ्यू को

तो नहीं बचा सका, पर मैं एक अन्य योग्य अधिकारी अनीता करवल के साथ अवश्य खड़ा रहा, जो कि मेरे कार्यकाल के दौरान मिली बेहतरीन अधिकारियों में से एक थीं।

□

इस्लामाबाद की उड़ान : पास होते हुए भी काफी दूर

मैं वहाँ जाना तो चाहता था, पर इसके लिए बहुत उत्साहित नहीं था। मुझे पूरी तरह से यकीन भी नहीं था कि वर्ष 2007 की शुरुआत में होनेवाले विश्व बैंक सम्मेलन में मैं इस्लामाबाद जाऊँगा। इसके लिए कई तरह की अनुमतियों, जैसे राजनीति से लेकर विभागीय तक की जरूरत थी। उन दिनों दिल्ली में स्थित पाकिस्तान मिशन सभी तरह की सूचनाएँ चाहता था और पाकिस्तान की उड़ान भी वाकई कठिन थी। मैंने यह अनुभव भी किया था कि यह उड़ान एक चमत्कार से कम नहीं थी। वास्तविकता यह थी कि मैं इस हवाई यात्रा में पाकिस्तान की यात्रा नहीं कर रहा था। मैं पाकिस्तान के ऊपर से उड़ रहा था। मेरी बीच की मंजिल दुबई थी। दुनिया भर के लोग इस इलाके के भूगोल से तो परिचित थे, पर इस उपमहाद्वीप की राजनीति से नहीं परिचित थे। यह सुनने में तो अजीब सा लगता है और शायद हास्यास्पद भी है। पिछले साठ वर्षों में हमने इसी तरह के हालात बनाए हैं और कई बार तो ऊपर से होकर जानेवाली उड़ानों को भी प्रतिबंधित किया है। सारी दुनिया में बीच की दीवारें गिर रही हैं और हम रोज ही कुछ नई दीवारें बनाते मालूम पड़ रहे हैं। जब हम इन दोनों देशों के बीच के संबंधों के बारे में सोचते हैं, तब कई और चीजों की तरह इसकी व्याख्या करना कठिन हो जाता है। आखिरकार, 15 घंटे से अधिक लगाने के बाद और हजार किलोमीटर से थोड़ी कम की दूरी तय करके मैं पाकिस्तान की तरफ उड़ा। किसी ने इस पर टिप्पणी भी की थी, “इतने समय में तो आप पैदल भी आ सकते थे।” मगर एक अच्छी भौगोलिक स्थिति जरूरी नहीं कि एक अच्छी राजनीतिक स्थिति भी हो। यूरोप के लोगों को सदियों तक रक्त-रंजित युद्ध में गुजारने के बाद यह समझ में आया कि एक अच्छी भौगोलिक स्थिति और अच्छी राजनीतिक स्थिति साथ रह सकती थी। एक अच्छी भौगोलिक स्थिति वाकई एक अच्छी राजनीति को प्रोत्साहित कर सकती है। मुझे नहीं पता कि इस समझ को सीखने में और कितनी सदियाँ एवं जीवन लगेंगे।

इस्लामाबाद के हवाई अड्डे पर एक अव्यवस्था फैली हुई थी। भारत की तुलना में यह थोड़ा खराब ही थी। सामान आने में भी काफी समय लगा। अप्रवास से संबंधित अधिकारियों ने मुझे संदेह की दृष्टि से देखा (सौभाग्य से, अपने इस्लामाबाद प्रवास के दौरान सिर्फ संदेह की नजर ही थी) उन्होंने मेरे पासपोर्ट पर मुहर लगाने में भी काफी समय लिया था। वैसे सबकुछ सहज ही था। इतनी अव्यवस्था के बाद भी लगभग सभी सहायता करने को तत्पर थे और जब उन्हें पता चला कि मैं भारत से आया था, तब वे और भी आगे आए। अपने तरीके से वे मनोवैज्ञानिक रुकावटों को खत्म करने में व्यस्त थे। वैसे, वहाँ मुझे आराम ही था। एक ने तो पी.सी.ओ. तक पहुँचने में मेरी सहायता की थी, ताकि मैं भारत बात कर सकूँ और घर पर लोगों को विश्वास हो जाए कि मैं एक ‘पराए’ देश में सकुशल था। सूचना क्रांति अभी यहाँ आने वाली थी। भारत की इस फोन सेवा का भुगतान मैंने अपने पास से किया था।

मैरियाट होटल तक पहुँचने में भी कार ने जरूरत से ज्यादा समय लिया, हालाँकि यातायात बहुत ही अनुशासित था और सड़कें भी चौड़ी थीं। यहाँ तक कि रात में भी कोई लालबत्ती को पार नहीं करता था। (कौन कहता है कि हम पाकिस्तान से कुछ भी नहीं सीख सकते!) यह अलग बात है कि अधिकतर नियमों की यहाँ धजियाँ उड़ाई जाती हैं। ‘No Smoking’ के साइनबोर्ड के ठीक सामने सिगरेट पीते सिपाही की फोटो लेना चाहता था, पर मेरे पास कैमरा नहीं था। ठीक इसी तरह ऊर्जा बचाने के स्पष्ट आदेशों के बावजूद दुकानें देर रात तक खुली हुई थीं।

हाँ, मगर होटल के भीतर तो सारी दुनिया एक जैसी थी। होटल, खासतौर से पाँच सितारा की अपनी एक अलग संस्कृति होती है, पर होटल के चारों तरफ की सुरक्षा क्षुब्ध कर देनेवाली थी। मैं काफी गहरी नींद सोया और नाश्ता भी काफी शानदार था।

हालाँकि अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की तलाश एक अलग ही कहानी थी, पर मेरे टैक्सी ड्राइवर में किसी तरह की घबराहट नहीं थी। वह काफी शांत और विनम्र था। वह मेरी लगातार होनेवाली खाँसी से थोड़ा परेशान था और उसने कोई दवा भी बताई थी। उसके साथ की यह यात्रा भी काफी सुखद थी। उसे यकीन था कि दोनों देशों को आपस में दोस्त बनना चाहिए और हथियारों पर होनेवाले खर्च को विकास के लिए करना चाहिए। वह वाकई समझदारी की बात कर रहा था; पर विचित्र बात यह थी कि जो लोग सक्रियतापूर्वक एक अंतर ला सकते थे, उनके लिए यह असामान्य बात थी।

मैं सोच रहा था कि जगह को तलाशने में लगे काफी समय के कारण मुझे इस सम्मेलन के लिए काफी देर हो

जाएगी; मगर मैं गलत था, क्योंकि मेरे पहुँचने तक अभी स्वागत काउंटर तैयार ही हो रहा था। भारतीय उपमहाद्वीप का लगता है, अपना ही एक मानक समय होता है; मगर मैं जिससे भी मिला, उसकी गर्मजोशी ने मुझे खुशियों से भर दिया। स्वागत सत्र की शुरुआत पारंपरिक संबोधनों से हुई; मगर भारत में होनेवाले भाषणों की तुलना में वे काफी छोटे थे। (बड़े भाई से एक और सीख) मैंने अपना प्रस्तुतीकरण भारत में असंगठित क्षेत्रों में काम करनेवालों से संबंधित मुद्दों के प्रति भारत के प्रयासों के बारे में बताया था। ऐसा प्रतीत हुआ कि वहाँ मौजूद श्रोताओं ने इसे पसंद किया, क्योंकि उसके बाद मेरे साथ एक हीरो की तरह व्यवहार किया गया और वहाँ सभी लोग इस क्षेत्र में किए जानेवाले भारत के प्रयास के बारे में जानने के इच्छुक थे। वहाँ भारत से सीखने और सहक्रिया बनाने की चर्चा भी हो रही थी।

पाकिस्तान सरकार के एक आला अधिकारी ने मेरी असुविधा पर ध्यान देते हुए मुझे तुरंत ही एक कार उपलब्ध करा दी थी। दोपहर बाद मुझे और भी रहस्यमय जानकारियाँ हुईं। सरकार का एक और अधिकारी मुझे इस्लामाबाद दिखाने ले गया। पहाड़ की चोटी से इस सुंदर शहर का दृश्य सचमुच अद्भुत था। हालाँकि उसने यह स्वीकार किया कि यह शहर पाकिस्तान को नहीं दर्शाता था। वहाँ एक कहावत है कि “इस्लामाबाद पाकिस्तान से 40 कि.मी. दूर है।” मगर मैं बहुत ही प्रभावित था। उसने और इस्लामाबाद के दूसरे रहनेवालों ने जो कुछ भी पाकिस्तान की अंदरूनी राजनीति के बारे में मुझे बताया, वह और भी रोचक था। वे सभी वहाँ के उच्च स्तर पर होनेवाले भ्रष्टाचार से वाकिफ थे। वे देश में लोकतंत्र चाहते थे, पर सभी राजनीतिक नेताओं ने इसे गिरा दिया था। वहाँ एक तरह की निराशा फैली हुई थी। वहाँ के लगभग सभी लोगों का भारत के प्रति एक प्रशंसा का भाव था। वे यहाँ की लोकतांत्रिक परंपराएँ, हाल ही में दी गई कुछ लोगों की कुरबानी, यहाँ के विकास और हाल की वृद्धि, सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति, शिक्षा व्यवस्था और पैदा होनेवाले अवसरों के लिए आदर का भाव रखते थे। भारत बिना ‘इंडिया शाइनिंग’ अभियान के ही अपने पड़ोस में चमक रहा था। वहाँ किसी तरह की ईर्ष्या नहीं थी। वहाँ सिर्फ प्रशंसा और स्पर्धा की भावना थी।

भारत और पाकिस्तान के बारे में हमारी गलतफहमियों के विपरीत वहाँ की प्रिंट और दृश्य दोनों मीडिया स्वतंत्र व जीवंत थे। वहाँ के चैनल राष्ट्रपति और मुख्य न्यायाधीश के विवादों में शामिल होने के सभी दृष्टिकोणों को स्वतंत्रता से पेश करते थे। लगभग सभी समाचार-पत्र उन सभी चीजों के प्रति कटु आलोचक थे, जो कि वहाँ सही नहीं थीं। कम-से-कम लोकतंत्र का चौथा स्तंभ जिंदा था और हाथ-पैर मार रहा था। पाकिस्तान में लोकतंत्र का विकास असामान्य तरीके से हुआ था। अपनी एक उपमहाद्वीपीय विशिष्टता के साथ यह अन्य इस्लामिक देशों से भिन्न था। पाकिस्तान शायद इस क्षेत्र के अन्य इस्लामिक देशों में लोकतांत्रिक जागरूकता पैदा कर सकता था। (क्या भारत इसमें उसकी सहायता कर सकता है?) वहाँ की औरतें बुर्के में नहीं थीं, जैसा कि अधिकतर भारतीय सोचते हैं। वे साफ बोलनेवाली और मुखर थीं। टी.वी. चैनलों की अधिकतर एंकर महिलाएँ ही थीं और वे बहुत ही आसानी से उनका संचालन भी करती थीं। यह प्रतिनिधित्व का उदाहरण नहीं हो सकता था; पर इससे यह साबित होता था कि वहाँ उन पर कोई रोक-टोक नहीं थी। वहाँ की महिलाएँ अपने भारतीय सहकर्मियों की भाँति सक्रिय मालूम पड़ती थीं। कम-से-कम इस मामले में तो वहाँ कोई सिद्धांत बघारने जैसी चीज नहीं थी। सड़कों पर वहाँ लोग पाकिस्तानी समाज के तालिबानीकरण को घबराहट से देखते थे।

इस तरह की आशंकाओं के खिलाफ पत्रिकाओं में लेख-पर-लेख भरे हुए थे और उन्होंने उन लोगों के खिलाफ समाज को चेताया भी है, जो कि पुराने अंधकाल की तरफ उसे धकेल रहे हैं। यहाँ का उदारवादी बहुसंख्यक वर्ग चाहता है कि लोग उन्हें समझें तथा समर्थन करें और उस रूढ़िवादी अल्पसंख्यक समाज के हिस्से की तरह उनके साथ व्यवहार न करें।

अपने दो दिन और तीन रातों के इस्लामाबाद के प्रवास के दौरान मैंने जो कुछ भी वहाँ के बारे में समझा या देखा, उसे सामान्य नियम का रूप देना सही नहीं होगा, पर सुनी-सुनाई बातों के आधार पर व्याख्या करने की तुलना में यह बेहतर था। जैसा कि हममें से अधिकतर लोग व्याख्या कर लेते हैं। वैसे लखनऊ की तहजीब इस्लामाबाद में देखना दिल को छू लेता है। मैं वाकई इससे प्रभावित था। वहाँ हर कोई अपने चेहरे पर मुसकान लिये ‘अस्सलाम वालेकुम’ के साथ मिलता था। मैंने वहाँ किसी को भी चिल्लाते या अपना आपा खोते नहीं देखा। ज्यादातर लोग विनम्र और सहायता के लिए हाथ बढ़ाने के इच्छुक थे। हालाँकि ज्यादातर लोगों के शांत व्यवहार और उच्च स्तर पर लोगों की मक्कारी भरी प्राथमिकताओं ने इस खूबसूरत और प्रेमी देश को भारी नुकसान पहुँचाया है। जिस समय मैं इस्लामाबाद से वापस लौट रहा था, तब मैं इस वास्तविकता से वाकई दुःखी था कि वहाँ की राजधानी के हवाई अड्डे का इतना

बुरा हाल और इतनी दुर्व्यवस्था क्यों थी?

वैसे, भारतीय हवाई अड्डे की स्थिति भी शर्मसार करनेवाली ही थी; पर भारत इसे बेहतर बनाने के प्रयास में लगा है। पाकिस्तान को तो अभी जागना है। वे अभी भी मनमोहन सिंह (सन् 1991 वाले मनमोहन सिंह, न कि प्रधानमंत्री) का इस स्थिति से उद्धार के लिए इंतजार कर रहे हैं। ईशाअल्लाह, इस देश के बेहतरीन लोगों के लिए यह सुधार जल्दी ही आए। शायद यह समय की पुकार है कि हम इतिहास से सीखें, न कि उससे सताए जाएँ। दुनिया में जो हो रहा है, हमें उससे सीखना है और अतीत के बोझ से जल्दी-से-जल्दी मुक्त होकर भविष्य की तरफ देखना है, क्योंकि वहीं भविष्य है।

□

Ripped from kindle by TimirNashak @ zlibrary.

Instead of Coffee & Sutta,Buy the book if you like it.

तिमिरनाशक @ zlibrary की प्रस्तुति

यदि पुस्तक अच्छी लगे तो कॉफी, सुट्टे के बजाय इसे खरीद !.

यदि मैं पुनः जन्म लेता हूँ...

भारतीय प्रशासनिक सेवा में बिताए अपने वर्षों को मैं पूर्ण संतुष्टि और प्रेम से देखता हूँ। वहाँ बहुत से उतार-चढ़ाव थे। इनमें उतार की बजाय शायद चढ़ाव ज्यादा थे; जैसे—रामजन्मभूमि-बाबरी मसजिद आंदोलन को संभालना, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना को लागू करने की संतुष्टि और उत्तेजना, 'कोयले' की समस्या का समाधान और शिक्षा माफियाओं को पकड़ना भी इनमें से कुछ थे। इसने जीवन को और भी रोचक बना दिया था। फिर भी, यदि मेरा दुबारा जन्म होता है और मैं (बढ़ती प्रतिस्पर्धा और कम होती नौकरियों में) इसे प्राप्त कर सकूँ, तब मैं फिर से आई.ए.एस. अधिकारी बनना चाहूँगा। इसकी वजह बहुत ही साधारण है। धरती पर और कोई नौकरी आपको इतनी स्वतंत्रता और इतने अधिक अवसर नहीं प्रदान करती है। यह उन विलक्षण नौकरियों में से एक है, जहाँ आप लगातार विकृत होते सामाजिक-राजनीतिक वातावरण में हमेशा ईमानदार बने रह सकते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा, सामाजिक कल्याण के प्रचुर अवसर प्रदान करने के साथ-साथ आकर्षक निजी क्षेत्रों से प्राप्त होनेवाले आर्थिक लाभ की तुलना में अधिक संतुष्टि प्रदान करती है। हाल की कुछ घटनाओं के बावजूद अभी भी एक आई.ए.एस. अधिकारी अपने कार्यकाल के दौरान अधिकतर पदों पर रहते हुए ज्यादातर अधिकार रखता है। वैसे, यह अलग बात है कि कुछ अधिकारी कुछ अन्य फायदों के लिए इन अधिकारों का त्याग करते हैं। पता नहीं उन्हें अपनी नौकरी की कीमत पर कुछ मिलता भी है या वे सबकुछ खो देते हैं? यह बहस का विषय है।

विचित्रता यह है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा के पास भ्रष्ट लोगों को बचाने की क्षमता होती है। कुछ साल पहले तक ऐसा विश्वास था कि ऊँचे और रसूखवाले लोगों को कठघरे में नहीं खड़ा किया जा सकता था। हालाँकि जागरूक जन-धारणा और मीडिया की दृष्टि से चीजें बदल रही हैं और कम-से-कम कुछ नौकरशाह तो बचते फिर रहे हैं।

वैसे कुछ अयोग्य लोग भी इसमें बने हुए हैं और फल-फूल भी रहे हैं। एक बार जब आप परीक्षा पास कर लेते हैं और अपने बॉस को खुश रखते हैं (यह जरूरी नहीं है कि अच्छे कामों से) तब आपकी प्रोन्नति निश्चित है। यह हो सकता है कि आप उच्च स्तर तक न पहुँच सकें (शायद आप पहुँच भी सकते हैं), फिर भी आप जीवन का आनंद ले सकते हैं, बैडमिंटन और अब तो गोल्फ भी खेल सकते हैं या फिर 9 बजे तक किन्हीं और कार्यों में लिप्त हो सकते हैं। 10.30 बजे ऑफिस पहुँचना, एक-दो घंटे के लिए दोपहर में खाने की छुट्टी और फिर दोपहर के आराम के बाद देर रात तक ऑफिस में बैठकर लोगों को प्रभावित करना कि आप कितना कठोर परिश्रम करते हैं। बहुत से राज्यों में, यदि आप चतुर हैं, तब आप किसी अन्य शहर में तबादले के बावजूद वर्षों तक पुराने शहर में अपना अधिकृत निवास अपने पास रख सकते हैं। यदि बहुत अधिक चतुर हैं, तब तो आप सरकारी कीमत पर अपने परिवार के लिए अलग गाड़ी भी रख सकते हैं। ऐसे और भी बहुत से उदाहरण हैं। सौभाग्य से, बहुत ही कम नौकरशाह इस श्रेणी में आते हैं, पर वास्तविकता यह है कि हममें से कुछ ऐसी सुविधाओं का उपयोग भी करते हैं। और कोई भी नौकरी ऐसी 'सुविधाएँ' नहीं प्रदान करती है।

सबकुछ कहने और करने के बाद भी आई.ए.एस. आपको मोक्ष के लिए अपना स्वयं का मार्ग चुनने का विकल्प प्रदान करता है। वाकई आप सिर्फ अपना मार्ग ही नहीं चुनते, बल्कि 'मोक्ष' को पुनः परिभाषित कर सकते हैं। आप काम कर सकते हैं और बने रह सकते हैं। आप कुछ नहीं भी कर सकते हैं, फिर भी बने रह सकते हैं। यदि आप ईमानदार हैं, तब आप टिके रह सकते हैं और यदि आप ईमानदार नहीं भी हैं, तब भी आप टिके रह सकते हैं। और कौन सा पेशा आपको इतने विकल्प उपलब्ध कराएगा?

यदि मैं दोबारा जन्म लेता हूँ, तब मैं फिर से लोक-सेवक का ही जीवन जीना चाहूँगा। और तो और, यह मेरे पिता का नहीं, बल्कि मेरा निर्णय होगा।